दो शब्द

आगरा यूनिवर्सिटी के बी० ए० कोर्स में आधुनिक हिन्दी-कवियों की रचना का न होना कुछ काल से बुरी तरह अखर रहा था, यह प्रयत्न इसी दिशा में है। चोटी के आधुनिक हिन्दी-कवियों में से तीन कवियों की उत्कृष्ट रचना के कुछ चुने हुए अंश ही इस संकलन में दिए जा सके हैं। विषय-चुनाव के समय हमने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि वे ही अंश लिए जायँ जो इस युग के जीवन के अधिक मेल में हों। जो सामग्री जहाँ से ली गई है वह अपने अविकलरूप में ही पूर्ण है, उसमें कुछ काँट-छाँट करना धृष्टता ही है परन्तु पाठ्यवस्तु की सीमा में जकड़े रहने से हमें यह कार्य अनिच्छा रहते हुए भी करना ही पड़ा है। किन्तु एक बात का अवश्य ध्यान रखा गया है कि मूल-वस्तु तथा उसके क्रम में कहीं कोई शैथिल्य न आने पावे। प्रस्तुत-संग्रह को पूर्ण बनाने के लिए सम्बन्धित कवियों के संक्षिप्त परि-चय के अतिरिक्त अन्त में टिप्पणी तथा शुद्धि-पत्र भी जोड़ दिए गए हैं।

मूल सामग्री के अतिरिक्त इस क्षेत्र की प्रथा के अनुरोध से कुछ लिखना भी आवश्यक प्रतीत हुआ। चलती लीक पर चलने की प्रणाली से बिना किसी विशेष प्रयास के औरों के समान हम भी बहुत कुछ लिख सकते थे परन्तु दौर्भाग्य से आजकल प्रामाणिक माने जाने वाले हिन्दी-साहित्य के इतिहास के मूलभूत दृष्टिकोण और उसके काल-विभाजन से—उसके लेखक के प्रति पूर्ण आदर-भाव रखते हुए भी—हम ऊब से गए हैं। हमारी समझ में उससे जो कुछ लाभ होना था, वह होगया। अब हमें इस क्षेत्र में कुछ आगे बढ़ना चाहिए। परन्तु हम यह भी जानते हैं कि ऐसा करना बर्रैया के छत्ते में हाथ डालना है लेकिन आत्मा के विरुद्ध लिखना भी आत्म-हत्या से कुछ कम नहीं। दूसरे हम स्वभाव से ही रूढ़ि-प्रेमी एवं अन्धभक्त नहीं। इसलिए इस धर्म-संकट के होते हुए भी हमने "हिन्दी-काव्य और उसकी गति-विधि" शीर्षक स्तम्भ में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का साहस किया है। सब प्रकार की आलोचना के लिए अपने को सब प्रकार तयार रखते हुए भी अन्तिम निर्णय विज्ञ-पाठकों के विवेक पर ही छोड़ना उचित समझते हैं। स्थान-संकोच के कारण इस स्तम्भ में अपने विचारों का खाका मात्र ही खींच सके हैं। सब पहलुओं पर विस्तार के साथ प्रकाश डालते हुए, इस विषय को अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण बनाकर स्वतन्त्र पुस्तक रूप में पाठकों की सेवा में समुपस्थित करने का शीघ्र ही प्रयत्न कर रहे हैं।

आधुनिक हिन्दी-कवियों की अधिकांश रचना में लोक-प्रतिनिधित्व एवं मूक वेदना के साथ एक दिव्य संदेश की स्पष्ट झलक

हम पाते हैं, अनेक दोष तथा अपूर्णता के रहते हुए भी केवल एक ही गुण के कारण ये सब कवि हमारी श्रद्धा के पात्र हैं। आशुतोषी होने के कारण "परिचायिका" शीर्षक स्तम्भ में हमने यथावसर सम्बन्धित कवियों के मिशन की इसीलिए मुक्त कण्ठ से सराहना की है। संभव है कुछ की दृष्टि में यह हमारी भावुकता हो परन्तु सच पूछिए तो खड़ी बोली में आजकल प्रचलित "पड़ी-समालोचना"—हाथ पैर बचाकर तटस्थ रहने का ढोंग रचकर समालोचना करने की शैली—से भी हमें कुछ मोह नहीं। यह खिलवाड़ भी अब बन्द होनी चाहिए। समालोचना का दिव्य प्रासाद निष्पक्षता की आधार शिला पर अवश्य ही आधारित रहता है परन्तु वह हृदय की विशालता एवं दृष्टि की स्वच्छता से प्रेरित होकर ही उपलब्ध हो सकती है। तर्क एवं हेत्वाभासों के प्रयोगों के सहारे शाब्दिक मायाजाल की आड़ में तटस्थ रहने का उपक्रम करने से वह उच्च स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए किसी दृष्टिकोण को मानव हृदय के अधिक मेल में पाकर, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करना हम आदमियत का सच्चा परिचय देना समझते हैं।

हम छात्रों को नोटस् लिखकर देने के—Spoon-feeding के—भी पक्षपाती नहीं। उनके स्वयं लिखने में उनका अधिक हित समझते हैं, इसलिए "परिचायका" में राधा तथा ऊर्मिला आदि के सम्बन्ध में सामान्यरूप से कुछ लिखकर, मूलभूत पाठ्य सामग्री पर बहुत कुछ लिखने का क्षेत्र छात्रों को स्वयं लिखने के लिए छोड़ दिया गया है।

अन्त में हम सर्व श्री पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय तथा

बा० मैथिलीशरणजी गुप्त के परम आभारी हैं, जिन्होंने 'कादम्बिनी' में प्रकाशन के लिए अपनी अमूल्य कृतियों से सामग्री लेने का अधिकार प्रदान करने की कृपा की है। सबसे बड़ी अड़चन श्री बाबू जयशंकर प्रसादजी के प्रकाशनों से सामग्री लेने के अधिकार के सम्बन्ध में उपस्थित हुई परन्तु वह भी श्री रायकृष्णदासजी के अनुग्रह से दूर हो गई, अतः रायसाहब के हम परम कृतज्ञ हैं। अपने परम आदरणीय मित्र सर्व श्री पं० अयोध्यानाथजी शर्मा एम० ए० तथा पं० रामबहोरीजी शुक्ल एम० ए० के भी हम परम अनुगृहीत हैं क्योंकि आप दोनों महानुभावों की कृपा से ही 'कादम्बिनी' पर आए संकटों के टालने में हम समर्थ हो सके हैं।

—भूदेव शर्मा

विषय-सूची

कादम्बिनी

हिन्दी-काव्य और उसकी गति-विधि

पृष्ठ-भूमि

भारतेन्दु-काल तक का समय हमारे आँसुओं की करुण कहानी है। ये वे काली और भयावह शताब्दिएँ हैं, जिनके अन्धगर्त में पतनोन्मुख भारत ने सब कुछ खोकर भी सुषुप्तावस्था में कुछ दिन के लिए जैसे-तैसे विश्राम लिया, थकावट दूर की और चेतना लाभ कर अपने पैरों पर खड़े होने का बल पाया एवं अगली शताब्दियों के संकटों को हँसते-हँसते झेलने का साहस बटोरा। इस अन्ध-काल में अनेक दिव्य आत्मा अस्तित्व में आईं, जिन्होंने सूची-भेद्य अन्धकार को हल्का तो किया परन्तु इसकी कालिमा को सर्वथा न मिटा सकीं और उषा काल के आते-आते अपना दिव्य-संदेश देकर काल-कवलित हुईं।

मनुष्य और उसका समाज साधारणतया अपनी परिस्थिति का—वातावरण का—दास होता है। इस लम्बे काल की हमारी बड़ी से बड़ी विभूति भी इससे अछूती.न।रह सकी। इधर उच्च आदर्श तथा सामञ्जस्यभावना पर अवस्थित भारतीय सामाजिक ढाँचा

ग्यारहवीं शताब्दी आते-आते निष्प्राण अस्थि-पञ्जर-मात्र रह गया था। माण्डलिक राजा पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और दम्भ के वशीभूत होकर अपनी आग में स्वयं जल रहे थे, जनता के सुख-दुःख की किसी को चिन्ता न थी। दूसरी ओर जिस दार्शनिकता के सहारे हम इहलोक और परलोक दोनों में सामञ्जस्य स्थापित कर, किसी समय वास्तविक आनन्द लाभ करने में समर्थ हो पाये थे, वह भी संकुचित एवं साम्प्रदायिक हो गई थी। त्याग और संयम का स्थान स्वार्थ और इन्द्रियलोलुपता ने ले लिया था। अन्धविश्वास, और स्वर्ग-मोक्ष को अनेक परिस्थिति-सुलभ साधनों द्वारा हल किया जा सकता था। अनेक सम्प्रदाय प्रबल पड़ कर भारतीय चेतना को मन्द कर रहे थे। तीर्थ और मठों का माहात्म्य एवं प्रभाव बढ़ रहा

यमुना तथा सरयू के कच्छ की धारा भी स्वच्छ न वह सकीं—अपने घेरे से बाहर निकलने में भी समर्थ न हो सकीं। जनता तक जो कुछ छींटे इनके पहुँचे, वे जल की स्वाभाविक शीतलता रखते हुए भी अपने नशीलेपन से खाली न थे। उनमें अपने सम्प्रदाय का पोषण मुख्य था और जनता का हित गौण।

इस प्रकार वीरगाथा काल से लेकर रीति काल कहे जाने वाले समय तक तयार होने वाले काव्य को मूल-प्रेरणा या तो राज-दरबारों से मिली अथवा धार्मिक मठों से। इन काव्यों के विषय मुख्यतया वीररस तथा शृंगार रस ही रहे। परन्तु यह वीरता अधिकांश में दरबारी वीरता ही थी और इसी प्रकार प्रेम भी एक ओर दरबारी प्रेम रहा तो दूसरी ओर धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक। मानव प्रेम के विशुद्धरूप में दर्शन न हो सके।

अभी तक हिन्दी-साहित्य का बटवारा भी या तो राज्य-परम्परा के आधार पर किया गया है अथवा विषय-संकेत द्वारा। जनता पर पड़े हुए प्रभाव को दृष्टि में रख कर विभाजन करने की आवश्यकता बनी हुई है।

पहले कुछ काल तक "अमुक राजा या बादशाह के राज्य में हिन्दी-साहित्य ने अमुक उन्नति की" का प्रकार रहा। बाद में अनायास ही इन राजाओं को श्रेय मिलना कुछ लोगों को न रुचा

और फिर हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि का श्रेय इस प्रणाली से मुस्लिम शासकों को मिलना तो और भी असत्य हुआ। जनता की चित्तवृत्ति का सहारा लेकर हिन्दी-काव्य को राजभवनों एवं मठों से घसीट कर खुले क्षेत्र में खड़ा करने का उपक्रम किया गया। इस तरह हिन्दी-साहित्य को वीर-गाथा-काल आदि चारों कालों में बाँटा गया है।

मानी गई है। दूसरे शब्दों में सिया-राम-मय सब जग को जानने और मानने वाले तुलसी जनता के प्रतिनिधि कवि हैं और उनकी रचना जनता का हृदय।

इस तरह इस दूसरे क्रम की मुख्य विशेषता दो हैं—दरबारी काव्य की यथासंभव उपेक्षा के साथ साम्प्रदायिक काव्य को जनता के हृदय का प्रतिनिधित्व देना तथा अन्ततः राम-भक्ति एवं तुलसी का उत्कर्ष द्योतित कर भगवान् सगुणरूप की उपादेयता सिद्ध करना। दुर्भाग्य से हमें दोनों बातों पर आपत्ति है। वैसे तो प्रत्येक वस्तु जो अस्तित्व में आती है अपनी कुछ न कुछ उपयोगिता रखती ही है, इस नाते इन उपर्युक्त प्रकार के दोनों काव्यों की भी वर्ग-विशेष के लिए आवश्यकता है और भविष्य में भी बनी रहेगी और इसलिए जिस प्रकार भक्ति-काव्य हमें उपादेय है उसी प्रकार दरबारी काव्य भी। हम दोनों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकते। परन्तु यदि जनता और उसके हिताहित की दृष्टि से विचार करना है तो दोनों ही प्रकार के कवि और उनके काव्य इस युग में एक सीमा तक उपेक्षणीय हैं। क्योंकि एक से यदि हमारा शारीरिक चैतन्य नष्ट हुआ तो दूसरे से मानसिक। न दरबारी काव्य ही जनता के हृदय का प्रतीक है और न साम्प्रदायिक भक्ति-काव्य। इस स्थिति में एक की स्तुति तथा दूसरे की निन्दा किस प्रकार की जा सकती है। दूसरे

एक राजा थे तो दूसरे नारायण। हमारी दृष्टि में—भले ही कुछ लोग हमसे सहमत न हों—इनमें मनुष्य एक भी न था। इसलिए इनको केन्द्र-विन्दु मानकर रचना करने वाले कवि इनके हृदय को चित्रित करने में भले ही समर्थ हुए हों परन्तु साधारण जनता के सम्पर्क में रहते हुए भी ये उनके मर्म से कोसों दूर रहे। इनके राम तक युवराज रूप में अथवा निर्वासित रूप में लोक के बीच के रास्ते घूम फिर कर भी राजा या भगवान् ही रहे। ह्रापसीन साधारणतया भेंट-पूजा, चढ़ावा चढ़ाने तथा आरती उतारने के रूप में ही हुआ। इसलिए जिस प्रकार स्वार्थ का प्राधान्य होने से कुछ कवि उपेक्षा के पात्र हैं। इसी प्रकार यदि कविता का हृदय साधारण जनता का हृदय होता है, तब हम इस कटु-सत्य को खेद के साथ प्रकट करने में विवश हैं कि ये कवि भी, और चाहे जो कुछ हों जनता के कवि नहीं। इनमें अधिकांश सबसे पहले भक्त हैं, साम्प्रदायिकता के घेरे में बद्ध रामोपासक हैं, कृष्णोपासक हैं अथवा मुस्लिम-सम्प्रदायवादी हैं और बाद में गौण रूप से कुछ और। कार्य का मूल्य भले या बुरे रूप में करने वाले के दृष्टिकोण—उसकी नीयत तथा उसकी उपयोगिता पर आँका जाता है। भक्ति के आवेश या अपने-अपने सम्प्रदाय की पुष्टि में हमारे महापुरुषों के चरित्र के सहारे निकले हुए ये

उद्‌गार भक्त की दृष्टि से उत्कृष्ट हो सकते हैं, उनसे गौणरूप में जनता को लाभ हुआ भी माना जा सकता है और इन बहुमूल्य उद्‌गारों को प्रकट करने वाले महापुरुष हमारे आदरणीय भी हो सकते हैं परन्तु जब इन पर जनता के प्रतिनिधि-कवि होने का आरोप किया जाता है तथा इन रचनाओं पर लोक-व्यापित्व का पलस्तर चढ़ाया जाता है, तब अवश्य हमारा अन्तःकरण विक्षुब्ध हो उठता है। इस चेतना और क्रान्ति के युग में भी आखिर हम कब तक इस खिलवाड़ को जारी रखेंगे। हमारी समझ में अब वह सुवर्ण-युग आगया है जब कि हमें अपने महापुरुष अपने नाते देखने हैं, राम के नाते नहीं। उनके गुणों का आदर करना है और उनके मानवीय दोषों को भी दोष रूप में ही देखकर अपना कर्त्तव्य निश्चित करना है। जो हृदय इनके इस शुद्ध स्वरूप से हमको परिचित करा सके, वही हमारा प्रतिनिधि–कवि है। आदि–कवि वाल्मीकि रामायण की रचना कर बहुत पहले इस मार्ग का संकेत कर चुके हैं। कुछ दिन भूल-भटक कर हमें फिर उसी राजमार्ग पर आना चाहिए। पुराने साहित्य को अपने समय की गति-विधि और अपनी आवश्यकता के अनुकूल बना कर अपने लिए उपयोगी बनाना चाहिए तथा नये साहित्य की सृष्टि भी सर्वथा नये ढंग से एवं मौलिक रूप में करनी चाहिए। हमें प्रसन्नता है कि हमारे बीसवीं शताब्दी के अनेक कवि इस

दिशा में अग्रदूत का काम कर गये हैं और कर रहे हैं परन्तु पुरानी परम्परा के उपासक और रूढ़ि-ग्रस्त हृदय यदि समय के साथ चल कर दिशा-संकेत करने में अपने को असमर्थ पावें तो कुछ दिन के लिए अपनी लेखनी को विश्राम ही दें तो समाज और साहित्य का परम हित हो। बड़ी कठिनता से सीधे रास्ते लगे अपरिपक्व हृदय को भुलावे में डालना हमारी समझ में नैतिक अपराध है।

इन पंक्तियों के लिखने के बाद यदि हम यह लिखने का साहस करें तो अनुचित न होगा कि जीवन के दूसरे क्षेत्रों के समान काव्यक्षेत्र में भी जनता का न तो हृदय रहा और न मस्तिष्क। यद्यपि संस्कृत-काव्य भी अपने आदर्श से गिर गया था, परन्तु हिन्दी-काव्य उस तक का अनुसरण न कर पाया। उस पर राज्य-सत्ता एवं साम्प्रदायिकता की ही गहरी एवं स्पष्ट छाप रही। जिन कुछ महानुभावों ने निःस्पृहभाव से हिन्दी-काव्य की श्री-वृद्धि की, उनकी नेकनीयती पर किसी प्रकार का सन्देह न करते हुए, हम यह कहने के लिए विवश हैं कि चाहे जान में अथवा अजान में अथवा संस्कारवश जनता के हित का भी ध्यान रखते हुए, जो मार्ग उन्होंने स्वीकार किया उससे वे उसके संकट को दूर न कर पाये। इसलिए जनता का यह अतीत बड़े कष्ट का रहा। इसको कुछ अधिक आलंकारिक तथा प्रभावशाली भाषा में कहें तो यह कह सकते हैं

कि यह काल घोर अन्धकार पूर्ण महारात्रि का रहा। अतः हम जनता और उसके हिताहित की दृष्टि से इस समूचे काल को निम्न-प्रकार से विभाजित करना अधिक स्वाभाविक एवं आवश्यक समझते हैं—

१—नैशकाल (विश्राम काल)—ग्यारहवीं शताब्दी से भारतेन्दु काल तक।

२—उषा काल—भारतेन्दु काल से सन् १९४० तक अथवा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक।

३—अभ्युदय काल—सन् ४० अथवा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बाद।

नैशकाल का काव्य और उसकी मुख्य प्रगति

इस काल के काव्य को दो दिशाओं में बाँट सकते हैं—

१—राज्याश्रित काव्य (दरबारी काव्य)

२—साम्प्रदायिक काव्य ।

राज्याश्रित काव्य की दो मुख्य शाखाएँ हैं—

अ—वीर रस प्रधान काव्य।

ब—शृंगार रस प्रधान काव्य।

वीर रस प्रधान काव्य—युद्ध के समय अपने आश्रयदाता को जोशभरी कविताओं से उत्तेजित करना और उसके पक्ष में समय पड़ने पर स्वयं तलवार चलाने से भी न झिझकना इस काल के कवियों की विशेषता है। इसको हम राजाओं की—जनता की नहीं वीर-गाथा का काल भी कह सकते हैं। इस दिशा के मुख्य कवि चन्दवरदाई हैं।

शृङ्गार रस प्रधान काव्य—इस काल में वे कवि आते हैं। जिनमें से अधिकांश ने अनेक प्रकार से विलासी माण्डलिक राजाओं की विलासवृत्ति को उत्तेजित कर तथा नायक एवं नायिकाओं के भेद प्रभेद के निरूपण एवं पाण्डित्यप्रदर्शन द्वारा खूब धन कमाया और सुख से अपने दिन निताये। जनता का चीत्कार न इनके कानों तक पहुँच पाता था और न इन्हें उसके सुनने की इच्छा ही थी। इस प्रकार के काव्य में जिस प्रेमवृत्ति का निरूपण है, उससे जनता का कुछ भी सरोकार न था। भरपेट भोजन न पाने वालों के पास इन चोचलों के लिए समय कहाँ? इसलिए यह प्रेम भी राजाओं का ही प्रेम है, जनता का नहीं। इस क्षेत्र के मुख्य कवि केशव, देव, विहारी और मतिराम आदि हैं।

साम्प्रदायिक काव्य को मुख्यतः तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है—

कि यह काल घोर अन्धकार पूर्ण महारात्रि का रहा। अतः हम जनता और उसके हिताहित की दृष्टि से इस समूचे काल को निम्न-प्रकार से विभाजित करना अधिक स्वाभाविक एवं आवश्यक समझते हैं—

१—नैशकाल (विश्राम काल)—ग्यारहवीं शताब्दी से भारतेन्दु काल तक।

२—उषा काल—भारतेन्दु काल से सन् १९४० तक अथवा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक।

३—अभ्युदय काल—सन् ४० अथवा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बाद।

नैशकाल का काव्य और उसकी मुख्य प्रगति

इस काल के काव्य को दो दिशाओं में बाँट सकते हैं—

१—राज्याश्रित काव्य (दरबारी काव्य)

२—साम्प्रदायिक काव्य ।

राज्याश्रित काव्य की दो मुख्य शाखाएँ हैं—

अ—वीर रस प्रधान काव्य।

ब—शृंगार रस प्रधान काव्य।

वीर रस प्रधान काव्य—युद्ध के समय अपने आश्रयदाता को जोशभरी कविताओं से उत्तेजित करना और उसके पक्ष में समय पड़ने पर स्वयं तलवार चलाने से भी न झिझकना इस काल के कवियों की विशेषता है। इसको हम राजाओं की—जनता की नहीं वीर-गाथा का काल भी कह सकते हैं। इस दिशा के मुख्य कवि चन्दबरदाई हैं।

शृङ्गार रस प्रधान काव्य— इस काल में वे कवि आते हैं। जिनमें से अधिकांश ने अनेक प्रकार से विलासी माण्डलिक राजाओं की विलासवृत्ति को उत्तेजित कर तथा नायक एवं नायिकाओं के भेद प्रभेद के निरूपण एवं पाण्डित्यप्रदर्शन द्वारा खूब धन कमाया और सुख से अपने दिन बिताये। जनता का चीत्कार न इनके कानों तक पहुँच पाता था और न 'इन्हें उसके सुनने की इच्छा ही थी। इस प्रकार के काव्य में जिस प्रेमवृत्ति का निरूपण है, उससे जनता का कुछ भी सरोकार न था। भरपेट भोजन न पाने वालों के पास इन चोचलों के लिए समय कहाँ? इसलिए यह प्रेम भी राजाओं का ही प्रेम है, जनता का नहीं। इस क्षेत्र के मुख्य कवि केशव, देव, बिहारी और मतिराम आदि हैं।

साम्प्रदायिक काव्य को मुख्यतः तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है—

१—सन्त साम्प्रदायिक काव्य।

२—मुस्लिम साम्प्रदायिक काव्य।

३—हिन्दू साम्प्रदायिक काव्य।

सन्त साम्प्रदायिक काव्य—हिन्दू राजा तथा मुसलमान बादशाहों ने भारत को अपने संघर्ष का केन्द्र बना रखा था। दोनों ही अपने-अपने स्वार्थ के लिए लड़ रहे थे। धर्म तो केवल आड़-मात्र था. वायुमण्डल इतना विषाक्त कर दिया गया था कि बड़े-बड़े विचारशील भी उसमें बहक गये। साम्प्रदायिक जोश में आपसी सिर फुड़ौवल के लिए खुला क्षेत्र मिल गया, शान्ति से जीवन बिताना दूभर हो गया। इस विषम परिस्थिति में कुछ सहृदय विक्षुब्ध हो उठे। उन्होंने दोनों को समानरूप से डाट फटकार कर सीधा मार्ग बताना चाहा परन्तु साम्प्रदायिकता की जड़ इतनी सुदृढ़ हो चुकी थी कि उनकी दुरंगी वाणी भी नक्कारख़ाने में तूती की आवाज़ सिद्ध हुई। रूढ़िग्रस्त एवं साम्प्रदायिक दार्शनिकता के मोह को वे स्वयं भी पूर्णरूप से न छोड़ सके थे, इसलिए उद्धार के स्थान में स्वयं ही साम्प्रदायिक दल-दल में फँस गये। दूसरों के समान उनका भी कुछ काल बाद एक-एक पृथक् पंथ बन गया। इस प्रकार के कवियों में कबीर मुख्य हैं।

मुस्लिम साम्प्रदायिक काव्य—इस वर्ग के कवि हिन्दू-

राजाओं की प्रेम कहानी और उनकी भाषा को अपनाकर भी साम्प्रदायिकता के मोह को न छोड़ सके। इस्लाम की गहरी छाप उनके हृदय पर रही। आध्यात्मिकता की पुट से भी उनके काव्य-चरित्र शुद्ध मानवीय रूप में चित्रित न हो सके। संक्षेप में उनकी दृष्टि राज्य-सत्ता तथा साम्प्रदादिकता से ही धूमिल रही। यही कारण है कि इस गंगा-जमनीरूप से भी वे जनता को वह चेतना न दे सके, जिसकी उसे अपेक्षा थी और इस प्रकार इन कवियों की काव्यधारा भी कुछ दूर चलकर स्वयं लुप्त हो गई। इस कोटि के कवियों में जायसी मुख्य हैं।

हिन्दू साम्प्रदायिक काव्य—सन्त तथा मुस्लिम कवियों के क्षेत्र में आजाने से हिन्दू-जनता पर पुराने हिन्दू-सम्प्रदायों का प्रभाव घटने लगा अथवा उसके घटने का अवसर आ गया। कुछ उपेक्षित जातियों को सिर उठाने का भी मौक़ा मिल गया। इसके प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दू-साम्प्रदायिक काव्य प्रबल पड़ा। हिन्दुत्व के नाते इस पक्ष को सहानुभूतिपूर्ण वातावरण मिला। मुस्लिम साम्प्रदायिक-काव्य की गति प्रायः रुक गई एवं वैष्णवधर्म का राम और कृष्ण के सहारे खूब प्रचार बढ़ा। भगवान् कृपाकर इसी भूमि पर पधारे। किसी के आँगन में खेले और कभी तीर कमान लेकर वन-वन भी घूमे। चलते समय अपने भक्तों को विष्णुलोक प्राप्ति की

गारंटी भी कर गये। कितने भक्तों ने इस रियायत से लाभ उठाया, यह तो विष्णुलोकवासी ही जान सकते हैं। हमारी समझ में पैंतीस करोड़ देवताओं के भारत का अधिकांश यहीं की यातना भोगने के लिए विवश हुआ। शुद्ध-मानवता के नाते इन महापुरुषों के चरित्रों को यदि काव्य में गाया जाता तो कदाचित् जनता की निद्रा जल्दी भङ्ग हो गई होती। काकभुशुण्डी-गरुड़ तथा याज्ञवल्क्य भरद्वाज के कृत्रिम मोह और बनावटी संवादों में समय नष्ट न कर अपनी दयनीय दशा का शीघ्र ज्ञान प्राप्त कर पाते। इस प्रकार के काव्य के कर्णधार सूर एवं तुलसी आदि हैं।

इस बीसवीं शताब्दी के प्रकाश में भी भगवान् के नंगे पाँव दौड़कर आने की आशा लगाये रामायण के शाब्दिक पाठ में निठल्ले भक्तों का संलग्न रहना तो किसी प्रकार क्षम्य भी हो सकता है परन्तु जब हमारे युवक हृदय को अब भी वही पाठ पढ़ाया जाता है तो हम सचेत कर देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि वे अधिक इस मोह में न पड़ें। इस महारात्रि में जिन्होंने राजमहलों में नाच-कूद कर अथवा मथुरा एवं अयोध्या के देव-मन्दिरों की छत के नीचे नाम रटन में जग कर समय बिताया, इस बीसवीं शताब्दी के उषाकाल में उनका निस्तेज होकर ऊँघना और झूमना स्वाभाविक है। परन्तु जो जनता खुले आकाश के नीचे सर्दी-गर्मी बरसात सहने

के लिए विवश होकर इतने लम्बे काल तक निद्रितावस्था में पड़ी रही, उसका आज उषाकाल है। वह आज क्यों उदास रहे फिर उस स्थिति में जबकि उसके राम मैथिली बाबू के शब्दों में इस भूमि को ही शुद्ध मानवरूप में स्वर्ग बनाने आये हैं।

संदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

इसलिए नैशकाल के बाद अब हमारा उषाकाल आता है।

उषा-काल

विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष, व्यापकरूप में विज्ञानवृद्धि एवं सामयिक विश्व की क्रान्ति के प्रभाव के कारण और कुछ ऐसे ही दूसरे कारणों से पुरानी रूढ़ि एवं परम्पराएँ तथा उनको प्राणदान देने वाली सत्ता या संस्था कुछ तो स्वयं ही क्षितिज से अदृश्य होगई—अपनी मौत मर गईं। जो बच रहीं, उनके लिए अनेक सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक संघर्ष हुए और हो रहे हैं।

नैश काल तक हमारे समाज में कुछ अस्वाभाविकता आगई थी। मनुष्य और उसका समाज प्रेम का बना हुआ है। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण ही सृष्टि की गति का मूल कारण है। इस ज्योति के जगने पर ही मनुष्य को साहस, बल और पुरुषार्थ के

लिए एक विशेष प्रेरणा मिलती है। स्वास्थ्य के लिए दूसरी आवश्यकताओं के समान यह सबसे प्रबल आवश्यकता है आदि बातों को जानते हुए भी पिछले काल में इस वृत्ति पर मिट्टी डालने का ही विशेष प्रयत्न किया गया। जब चित्रण किया गया तो कृत्रिम रूप—में भगवत्प्रेम की अथवा राजसी एवं दरबारी प्रेम की आड़ में। परन्तु ये सब मानव प्रेम के वास्तविक रूप से सर्वथा परे हैं। साधारण व्यक्ति अथवा गृहस्थ का न ऐसा कभी रूप रहा और न है। मानव-प्रेम न तो काल्पनिक आदर्शात्मक जगत् की चीज है और न राजाओं के प्रेम जैसा विकारी। यही कारण है कि ऐसे दोनों प्रकार के साहित्य से न तो जनता मीरा के समान मतवाली बन सकी और न कामुक एवं विलासी राजाओं के समान पतित। हाँ इस प्रकार के साहित्य से उसकी स्वाभाविक गति अवश्य रुक गई।

इस उषाकाल में दूसरी बातों के साथ सबसे बड़े मार्के की बात यह हुई कि समाज में शुद्ध मानव-प्रेम के चित्रण करने का अवसर मिला। चलनी में चन्दा झाँकने की प्रवृत्ति कम हुई। जैसे-जैसे अवसर मिलता गया—कालिमा कम होती गई—यह वृत्ति भी बल पकड़ती गई। पन्त, निराला और महादेवी वर्मा के हृदय की वेदना मानव हृदय की हूक है, उसको आध्यात्मिक

अथवा रहस्यात्मक समझना फिर गढ़े में फिसलना है। जो कुछ अस्पष्टता है, वह आध्यात्मिक अस्पष्टता कदापि नहीं है, अपितु वह केवल इसलिए है कि हमारे समाज में अभी वह वल नहीं आया है, हमारे स्त्री-पुरुष अभी उतने स्वस्थ नहीं हो पाये हैं कि जो मानवता के शुद्ध-रूप में दर्शन कर सकें। ज्यों-ज्यों हमारा स्वास्थ्य सुधरता जायगा, लेखकों की लेखनी में स्पष्टता आती जायगी परन्तु उसमें विलासिता की गन्ध न होगी। वह मारक न होकर, पोषक होगा। उस प्रेम ज्योति से न मालूम कितने सहृदय चमत्कृत होकर कर्त्तव्य-क्षेत्र में कूद पड़ेंगे। इसलिए इस काल के श्रेणी विभाजन में हमने मुख्यतया प्रेमवृत्ति और उसके विकास के क्रम का ही ध्यान रखा है और महत्त्व भी इसी भावना से दिया है। इस काल के प्रारम्भिक कवियों में हम शुद्ध मानव-प्रेम का केवल संकेत देने का ही साहस पाते हैं परन्तु बाद के कवियों में वह प्रौढ़ रूप ग्रहण कर गया है। इस काल को हम झाँकियों में बाँटेंगे। इन झाँकियों की केवल विशेषता यह है कि ये उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकाशवती होती गई हैं।

पहली झाँकी—इस झाँकी के कवियों ने अपनी कविता में शुद्ध प्रेम, देश-प्रेम जात्यभिमान और सामाजिक कुरीतियों को ही मुख्यतया विषय रूप में स्वीकृत किया। इनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,

प्रताप नारायण मिश्र, पं० श्रीधर पाठक, पं० नाथूराम शंकर शर्मा प्रमुख हैं।

दूसरी झाँकी—इसमें वे प्रतिभाशाली कवि आते हैं, जो समय के प्रभाव को मानते हुए और जनता से सहानुभूति रखते हुए भी भक्ति या श्रद्धावश राम और कृष्ण के मोह को न छोड़ सके। इस वर्ग में जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त आदि मुख्य हैं।

रत्नाकरजी—मुख्यतः कृष्णभक्ति एवं ब्रजभाषा के उपासक रहे परन्तु अपने दृष्टिकोण में कुछ अधिक अस्पष्ट ही रहे।

मैथिली बाबू—राम में श्रद्धा और भक्ति रखते हुए भी राम को साकेत महाकाव्य का नायक न बना पाये और रामायण आदि नाम न रख कर साकेत नाम रखने के लिए विवश हुए। लक्ष्मण और उर्मिला को मुख्यता देकर मौनरूप में उन्होंने जनता के दृष्टिकोण को ही अपनाया है—मानवप्रेम का चित्रण किया है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय—इन्होंने तो स्पष्ट रूप से कृष्ण को अपनी भूमिका में महापुरुष के नाते चित्रित करने की घोषणा की है। उपाध्यायजी की राधा घरेलू जीवन की राधा है, उसका हृदय मानवीय है।

तीसरी झाँकी—इस श्रेणी के वे कवि हैं जो प्राचीनता-प्रेमी हैं। जिन्हें वर्त्तमान काल की स्पष्टता कुछ विशेष रुचिकर नहीं। रीति काल के नग्न एवं दरबारी-प्रेम के प्रतिक्रिया स्वरूप जिन्हें मानवीय प्रेम और उसके चित्रण से घिन होगई है, जो जड़-प्रकृति के चित्रण में ही सामाजिक मर्यादा को अधिक सुरक्षित समझते हैं तथा स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते झिझकते से हैं। हाड, माँस और मज्जा के बने शरीर में प्रवाहित रक्त की उष्णता की अपेक्षा जो अर्क-क्षीर में अधिक गर्माहट का अनुभव करते हैं।

जब नैशकाल के—मध्ययुग के—प्रभाव को उषाकाल में क्षीण होते देखा, पर्यटन के वास्ते नदी, नाले, कछार, अमराइयों एवं महुओं के बागों की ओर चले गये। बहुत से लोग इनके साथ भी हो लिये। स्फूर्ति-लाभ करने और स्वास्थ्य के लिए हम भी इसको बुरा नहीं समझते। इस ओर भी जितने झुकें उतना ही अच्छा है। इस दिशा में पं० रामचन्द्र शुक्ल सर्वेसर्वा हैं।

चौथी झाँकी—यह झाँकी उन लोगों की है, जिन्हें हम 'अतृप्त-युवक-हृदय' के नाम से पुकार सकते हैं। अँग्रेजी साहित्य द्वारा यूरोपीय रहन-सहन एवं आचार-विचार के परिचय और प्रभाव ने सदियों से प्रसुप्त कोमल भावनाओं

को सहसा जाग्रत कर दिया । आँखों के सामने मूर्त्तिमान रूप में उनके स्वच्छन्द विचरण और सिनेमा आदि वैज्ञानिक साधनों ने जलती अग्नि में घी का काम किया। युवक-युवतियों का हृदय विक्षुब्ध हो उठा। कभी-कभी तो बेकाबू भी हो गया। कुछ प्रेमनगर बसाने में लगे और कुछ वहाँ प्लाट खरीद कर घर भी बनाने लगे। भारत की बूढ़ी आँखें सब कुछ देख सकती थीं, परन्तु उद्धत युवकों के ये स्वच्छन्द रंग-ढंग उन्हें न भाए। चारों ओर से आक्रमण होने लगे, भर्त्सना की जाने लगी और उचित एवं अनुचित नामों से सम्बोधित भी किये जाने लगे। कभी-कभी मर्यादा का उल्लंघन भी आवश्यक हो गया। परन्तु बीसवीं शताब्दी का युवक सोलहवीं सदी से बहुत दूर चला आया था, वहाँ लौटना उसके लिए असम्भव था। वह अड़कर और ज़ोर ज़ोर से वही राग अलापने लगा। उसके इस सुर में अतृप्ति थी, वेदना थी और विवशता थी, और भी बहुत सी बातें थीं। कुछ भीतर की बेचैनी और कुछ बाहर के विरोध और आक्रमणों से इस चीख़ में कुछ ऐसी करुणा भर गई और माधुर्य आ गया कि समस्त युवक हृदय तिलमिला उठा, सब युवक एक हो गये और बूँद-बूँद मिलकर इनकी पूरी सरिता प्रवाहित होने लगी। बूढ़े देखते ही रह गये। परन्तु इस आपा-धापी और संघर्ष में इन लोगों को बूढ़ों के पक्ष की

एक उच्च भूमि मिल गई, जहाँ से ये आसानी से अपने नग्नरूप पर झिलमिल परदा डाल कर बूढ़ों को चकमा देने में सफल हो गये। इस भूमि की संक्षेप में कहानी यह है कि वहाँ सब तरह की स्वतन्त्रता है, भले रह कर अपनी सब वासनाओं को यथेच्छ सन्तुष्ट और शान्त किया जा सकता है, केवल एक नियम बिना किसी अपवाद के मानना पड़ता है और वह यह कि चाहे कुछ करो या कहो भगवान् और भगवती के चोले में करो अथवा भगवान् के बनाये सूर्य, चन्द्र-तारे तथा फूल-पत्ती की आड़ में तात्पर्य यह है कि राधा और कृष्ण के रूप में सब क्षम्य हैं। मनचीते रूप और भावभंगी की तस्वीर आप वहाँ लगा सकते हैं बशर्ते नीचे राधा या भारतमाता आदि नाम लिखा हो।

हाँ तो हमारे कोकिल-कण्ठों ने भी यह मन्त्र पढ़ लिया। हवाई जहाज में पहले से ही सवार थे, अब मनचाहे आस्मान पर उड़ गये। अब जो कविता होने लगीं वे सीधी भगवान् से अथवा उसकी सृष्टि से लिपटी हुई आईं। सबके मुँह बन्द हो गये। भगवान् की पुट लगते ही सब प्रतिबन्ध हट गये। छायावाद, हालावाद, विजयावाद और रहस्यवाद रूप में खुल्लमखुल्ला विचरने की सहूलियत हो गई और ऐसी कविताओं का एक स्वतन्त्र क्षेत्र बन गया।

अस्तु, इस वर्ग में बा० जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्द पन्त, सूर्य-

कान्त त्रिपाठी निराला और श्रीमती महादेवी वर्मा प्रमुख हैं। कभी-कभी बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी राजनैतिक झंझटों से फुर्सत मिली तो इधर झाँक जाते हैं।

आजकल रहस्यवाद तथा छायावाद आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थ निकल रहे हैं। प्रत्येक में एक दूसरे से बढ़कर दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। भगवान से कम कोई बात ही नहीं मानों यहाँ की सब समस्याएँ सुलझ गईं, अब केवल परमात्मा बनना ही बाकी रह गया है। हमने जब-जब ऐसी कविताओं में भगवान् ढूँढ़ने की कोशिश की, कुछ न पाया परन्तु भौतिक दृष्टि से विचार करने पर वे ही कविता उत्कृष्ट कोटि की जँचीं। इसमें लेखकों का भी अधिक दोष नहीं है। असाधारण तथा अस्वाभाविक रूप से वैयक्तिक स्वतन्त्रता अपहरण होने पर ऐसे ही मानसिक षड्यन्त्र अस्तित्व में आते हैं और तब तक नहीं रोके जा सकते जब तक कि साधारण अवस्था न आ जाय। हमारी समझ में अब वह समय आ गया है जब कि हम शिष्टता के साथ इसी लोक में रहते हुए अपने हृदय को स्पष्ट कर सकते हैं। इसलिए अब अधिक इस क्षेत्र में भगवान् को घसीटना न हम आवश्यक समझते हैं और न श्रेयस्कर ही। साथ ही हम नग्नता के भी पक्षपाती नहीं हैं। कोमल भावनाओं का व्यञ्जनापूर्ण शैली में निरूपित करना सदैव

अपेक्षित है और रहेगा।

इस प्रकार यह युग प्रेम, पुरुषार्थ साहस एवं सहिष्णुता का दिव्य संदेश अपने साथ लाया है। जीवन की समस्याओं और विषमताओं के मेल में अपने साहित्य को अधिकाधिक देखने का सुलभ अवसर आज हमें मिला है, उससे लाभ उठाना या न उठाना हमारा काम है। प्रस्तुत संग्रह में इसी युग के तीन महा-कवियों की अमूल्य रचनाओं की कुछ बानगी देने में हम समर्थ हो पाये हैं। विषय-चुनाव में हमने इसी बात का विशेष ध्यान रखा है कि वे ही प्रसंग लिए जायँ, जिनमें हमारे युवक-हृदय की गहरी छाप हो। जिनमें उसके हृदय की उलझन हो, उसकी समस्याएँ हों और उनका उचित समाधान भी हो।

आज का समय जितना अनिश्चित जटिल एवं संकटपूर्ण है, उतना कदाचित् ही कभी रहा हो। सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक उलझनों के साथ-साथ आर्थिक स्थिति इतनी बिगड़ी हुई है कि दो रोटी कमाना भी दूभर हो रहा है। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए पदे-पदे बड़े संयम एवं त्याग की अपेक्षा है। परन्तु मनुष्यत्व की परीक्षा का भी कदाचित् यही अवसर है। मानव-हृदय आज जितना प्रेम से लबालब भरा हुआ है, उसके रक्त में आज जितनी गर्मी है, उसमें जितनी चेतना और स्फूर्ति है तथा

कर्त्तव्य का दबाव आज जितना प्रबल है, वह भी शायद कई शताब्दी पहले तक कभी नहीं रहा। आज बाप-बेटे का, पति-पत्नी, एवं भाई और भाई का एक ही छत के नीचे जीवन के एक लम्बे भाग तक हँसी-खुशी क्या रोते रहना भी कठिन हो रहा है। जो आज दाम्पत्य-जीवन के पवित्र धागे में बँधे हैं, जिनके हाथों की मेंहदी का रंग भी अभी हल्का नहीं हो पाया है, कल वे एक-दूसरे से विच्छिन्न होकर कितनी दूर और कहाँ जा पड़ेंगे, किसको पता है। कब मिलेंगे, फिर दर्शन होंगे भी कि नहीं भविष्य के सिवाय इसको कौन बता सकता है। आज हम जिस ज्वाला पर खड़े हैं, वह कब फूट निकले और हमें उदरसात करले, इसको भी कोई क्या जान सकता है। परन्तु मनुष्य यदि इनकी चिन्ता करता तो कदाचित् आज उसका यह रूप भी न होता। हँसते-खेलते, दुनिया के सब काम करते हुए, साहस के साथ सर्वस्व होम देना ही तो इसकी विशेषता है। अपने पूर्वजों की करुण कहानी से इसने संकटों का स्वागत करना ही तो सीखा है। उनकी सहिष्णुता के उदाहरण से यह सदा साहसी ही बनता रहा है। जिस समाज में ऐसे महा-पुरुषों का अस्तित्व जितनी अधिक मात्रा में रहा है, उस समाज के उतने ही अधिक समुन्नत होने और रहने के अवसर रहे हैं। सौभाग्य से हमारे यहाँ ऐसे महापुरुषों की किसी युग में कभी

कमी नहीं रही। त्रुटि यदि रही है तो यही कि हमने इनको अपने युग और जीवन की वास्तविकता एवं आवश्यकताओं के साथ मिलाकर नहीं देखा। साकेत में जिस उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्र का अंकन हुआ है उसमें हमारे युग का प्रतिनिधित्व है। सामाजिक बेड़ियों में जकड़े रहने पर भी अपने दाम्पत्य-जीवन की पवित्र धारा को किस प्रकार अक्षुण्ण बहने दिया जा सकता है तथा सैकड़ों मील के अन्तर एवं अनेक वर्षों के व्यवधान पर भी दो हृदय कैसे अटूट सम्बन्ध बनाए रह सकते हैं उर्मिला और लक्ष्मण इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। ऐसे चरित्रों में हम केवल अपने जीवन को ही प्रतिबिम्बित नहीं पाते बल्कि सान्त्वना के साथ-साथ कर्त्तव्य की प्रेरणा भी पाते हैं।

यह युग ओजस्विता एवं आवेशका है। आदर्श तथा यथार्थवाद में सामञ्जस्य भाव के लिए जितनी अनुकूलता आज है, फिर कब होगी भगवान् ही जानें। सहस्रों वर्ष के संघर्ष के बाद आज दोनों एक धुरी पर आए हैं। पुरानी जीर्ण-शीर्ण तथा अव्यावहारिक रूढ़ि एवं परम्पराओं से पीछा छुड़ा कर प्रसुप्त रागवृत्ति को यदि आज भी न जगाया तो फिर कौनसा अवसर आयगा। खोखले सिद्धान्तों के मोह में हम क्या कुछ नहीं खो चुके हैं। कुछ दिन से हमने अपनी बेड़िएँ स्वयं असाधारणरूप से कस ली हैं। जिस

करने होंगे। पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय-प्रवास' में राधा-कृष्ण के प्रेम को शुद्ध मानवीय रूप में चित्रित कर इसी दिशा का संकेत किया है।

अभी तक एक सत्य घटना पर मिट्टी डालने की ही प्रायः धृष्टता की जाती रही है। कोई महानुभाव राधा-कृष्ण को प्रकृति-पुरुष रूप में देखकर जमीन-आसमान के कुलावे मिलाने में ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझते थे। कोई इस घटना की सत्यता पर ही विश्वास न करते थे तो कोई इनको भगवान् मानकर "समर्थ को नहिं दोष गुसाईं" के आधार पर मन मसोस कर रह जाते थे। उपाध्यायजी ने इन कृत्रिम आवरणों एवं आरोपों से अपने चरित्र-नायक की बड़ी सफलता से रक्षा की है। बचपन के साथी राधा और कृष्ण भले ही अग्नि-साक्ष्य के लिए वेदी पर न आ सके हों परन्तु इससे उनके स्वाभाविक प्रेम पर कोई बट्टा नहीं लगता। ऐसा प्रेम समाज की गति में कोई बाधा भी नहीं उपस्थित करता। फिर उपाध्याय जी ने दोनों जीवनों को सेवा की पुट से कर्त्तव्य-परायण बनाकर ऐसी उच्च-भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ स्वकीया—परकीया के झमेले तक के लिए कोई अवसर नहीं रहता। राधा और कृष्ण का यह मानवी-रूप इस युग के हमारे जीवन के कितने मेल में है तथा इसमें हम अपनी कितनी उलझनों

का समाधान पाते हैं, वह भी पाठकों के मन विनोद करने की वस्तु है। कम से कम हम अपने जीवन-संग्राम तथा व्यावहारिक के जीवन से समानान्तर में आनन्द की प्रेरणा पाते हैं, इसलिए हम दोनों में से किसी की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसलिए उत्तरार्ध हमें भला भी इसीलिए लगता है। अपने संग्रह में इन दोनों प्रसंगों को हमने इसी दृष्टि से अपनाया है।

अभ्युदय काल

यह काल अभी भविष्य के गर्भ में है। अभी से इसकी स्पष्ट रूप रेखा नहीं खींची जा सकती, परन्तु दो बातें अवश्य ही ध्रुव सत्य हैं, एक तो यह कि—भारत का और उसके साथ हमारे काव्य का भी भविष्य उज्ज्वल है और दूसरे अब से जिस साहित्य का निर्माण होगा वह जनता का होगा और उसके निर्माता जनता के सच्चे प्रतिनिधि कवि होंगे। उत्थानकाल में मध्यम श्रेणी (Middle Class) के लेखकों का प्राधान्य रहा है, इस काल पर प्रभुत्व उन लोगों का होगा जो जिन उंगलियों से कुदाल चलायेंगे, उन्हीं से उत्कृष्ट कोटि के साहित्य की सृष्टि भी करेंगे।

परिचायिका

हिन्दी काव्य में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

उपाध्यायजी उन प्रतिभाशाली एवं साहसी व्यक्तियों में हैं जो अपना रास्ता आप बनाते तथा अपने पैरों खड़े होते हैं। वीरगाथा काल की भाँति—जब कि कवि न केवल कविता ही करते थे अपितु तलवार भी चलाते थे—उपाध्यायजी को भी कविता के साथ-साथ भाषा को बल देना पड़ा, उसके शब्द भांडार को समृद्ध करना पड़ा और विरोधियों के प्रबल विरोध को शान्त कर, आगामी कवियों के लिए मार्ग भी प्रशस्त करना पड़ा।

समाज में चेतना आगई थी परन्तु स्वयं उसको उसका पता न था, गतिशील होते हुए भी दिशा संकेत करने वाले की कमी थी। उपाध्यायजी अचल की भाँति सम्भल कर खड़े हुए, स्थिर दृष्टि से चारों ओर देखा और कर्त्तव्य निश्चित कर दृढ़ता से हितकर मार्ग का अनुसरण करने लगे। आज भी वे इसी व्रत को लिए हुए हैं—अपनी बची खुची शक्ति को भी पूर्णाहुति रूप में होमने के लिए तैयार हैं।

उपाध्यायजी के काव्य की पृष्ठ-भूमि संघर्ष है, उसका वातावरण अन्धविश्वास, अविश्वास और रूढ़ि-प्रेम का है। परन्तु उपाध्यायजी अपने काव्य में इन सबसे ऊँचे उठने के लिए प्रयत्नशील हैं। उन्होंने व्रजभाषा में कविता करनी प्रारम्भ की परन्तु जिस क्षण उन्होंने यह देखा कि इसमें अपने उद्देश्य की सिद्धि की संभावना नहीं, समय अनुकूल नहीं और भविष्य उज्ज्वल नहीं, विना ममता-मोह किये उसे छोड़ दिया और खड़ी बोली को सम्भाला। खड़ी बोली का शैशव था। लोगों को इसके बल और गुणों का आभास ही कैसे मिलता। खड़ी बोली में कविता करने वालों का उपहास किया जाता था। अनेक संगत और असंगत दोषों का आरोप किया जाता था। जिससे एक वार तो इसका अस्तित्व ही संकट में पड़ गया—व्रज-भाषा के प्रेमियों का कहना था कि खड़ी बोली में कविता ही नहीं हो सकती, होगी तो उसमें सरसता का सर्वथा अभाव होगा। दूसरे हिन्दी छन्दों के खड़ी बोली अनुकूल नहीं पड़ती आदि। उपाध्यायजी ने 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य की सफल रचना कर, उपर्युक्त आरोपों की असारता सिद्ध की। कुछ दिन इस काव्य के सम्बन्ध में बड़ी चर्चा रही। अनेक प्रकार के दोष निकाले गये—बाल की खाल निकाली गई। जिसका उपाध्यायजी ने ५२ पृष्ठों की भूमिका में समुचित उत्तर दिया। इस महाकाव्य की

विशेषता कई रूप में है। इसकी भाषा संस्कृतगर्भित होने से सरस है। अभी तक हिन्दी-काव्य तुकान्त ही होते थे, यह महाकाव्य अंतुकान्त है। मन्दाक्रान्ता, वसन्ततिलका आदि संस्कृत के छन्द भी स्वतंत्रतापूर्वक अपनाए गये हैं।

इतनी क्लिष्ट रचना करने पर पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए इन्होंने सरल काव्य की भी रचना की। बोलचाल, चोखे चौपदे तथा चुभते चौपदे इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन काव्यों में उर्दू-छन्दों के सहारे मुहावरे बड़ी सुन्दरता से वर्णित किये गये हैं। 'पद्य-प्रसून' में क्लिष्ट और सरल दोनों प्रकार की कविता संगृहीत हैं। साथ ही आप व्रज भाषा को भी नहीं भूले हैं। जब-तब उसमें भी रचना करते रहते हैं। 'रस-कलश' में ऐसी कविताओं का ही संग्रह किया गया है।

उपाध्यायजी अब कुछ गम्भीर चिन्तन की ओर भी झुके हैं, जो कि इस अवस्था में सम्भव ही है। 'स्वर्ग-संगीत' ऐसी ही रचना है। प्रौढ़ अवस्था के परिपक्व विचारों के साथ-साथ इसमें दार्शनिकता की गहरी छाप है।

राधा

राधा प्रिय-प्रवास की मुख्य नायिका है। उपाध्यायजी ने सभी पात्रों का सफल चित्रण किया है परन्तु जो जीवन, स्फूर्त्ति, दृढ़ता एवं गम्भीरता राधा को दे पाये हैं, वह दूसरों को नहीं। ये सब बातें वस्तुतः राधा के उपयुक्त भी थीं। राधा नखशिख से असाधारण सौन्दर्य-शालिनी है। शरीर के अनुरूप ही उसका हृदय भी परम तरल है और साथ ही उदार भी।

कृष्ण सभी को अच्छे लगते हैं—वे सभी के प्रिय हैं। राधा भी इसकी अपवाद नहीं परन्तु राधा और कृष्ण का मिलना कुछ विचित्रता लिये हुए है। जड़-लेखनी में वह शक्ति नहीं जो दोनों हृदयों के उस खिंचाव का निरूपण अथवा विश्लेषण कर सके। यही स्थिति कुछ अनिर्वचनीय होती है, कोई वस्तु हमें प्रिय लगती है—सर्वस्व समर्पित कर बैठते हैं। हम स्वयं नहीं जानते क्यों? राधा और कृष्ण की भी यही दशा है।

'प्रिय-प्रवास' में राधा और कृष्ण युवारूप में मिलते हैं। प्रारम्भिक जीवन का कुछ आभास केवल दूसरे प्रसंगों में दिया गया है। आगे भी कथावस्तु कुछ अधिक विस्तार लिए हुए नहीं है।

हां रसात्मकता का प्रवाह अविरल बहा है। हृदय की छोटी से छोटी वृत्ति को चित्रित होने का पूर्ण अवसर मिला है। प्रिय के प्रवास-काल में होने वाली वेदना एवं विवशता के मार्मिक चित्रण के साथ कर्त्तव्य-बुद्धि को सजग रखते हुए, सेवाव्रत का सफल निर्वाह 'प्रिय-प्रवास' की अपनी विशेषता है। इसमें कवि ने जीवन को संघर्ष से उठा कर, उसे सेवा में पर्यवसित किया है। परन्तु यह सब कुछ राधा जैसे हृदय में ही सम्भव भी हो सका है।

घटना ऊपर से साधारण है। यज्ञ में निमन्त्रित होकर कृष्ण को केवल मथुरा तक जाना है। साधारण स्थिति में राधा को भी इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी परन्तु यहाँ तो पर्दे के पीछे सम्भावित अनिष्ट की ज्वाला धधक रही है:—

"अमित-विक्रम कंस नरेश ने, धनुष-यज्ञ विलोकन के लिए।
कल समादर से ब्रज-भूप को कुँवर संग निमन्त्रित है किया॥"

अपरिमित बलशाली कंस का बुलाना मृत्यु का बुलाना है परन्तु परिस्थिति की विषमता के कारण ब्रज विवश है:—

"गमन जो न करें बनती नहीं, गमन से सब भाँति विपत्ति है।
जटिलता इस कौशल जाल की, अहह अति कष्ट प्रदायिनी॥"

इससे अधिक कुछ कहने का कदाचित् ब्रजवासियों को अधिकार भी नहीं है। परन्तु अभाव और अनिष्ट की आशंका से

ब्रजवासियों के हृदय को सहस्रधा छिन्न-भिन्न होने से भला कौन रोक सकता है। यूं तो आवाल वृद्ध ही की बुरी दशा है। यशोदा और नन्दबाबा के हृदय का तो पूछना ही क्या—

"तड़पते तब यों तल्प पै, निशित शायक विद्धजनो यथा।"

परन्तु राधा का तो हृदय वस्तुतः धाँय-धाँय जल रहा है, उसका तो सुनहरा संसार ही आज उजड़ रहा है—चारों ओर शून्य ही शून्य दिखाई देता है:—

"पर हृदय न जाने दग्ध क्यों हो रहा है।
सब जगत् हमें है शून्य होता दिखाता॥"

यह सब कुछ होते हुए भी परिस्थिति की गम्भीरता एवं कर्त्तव्य की प्रेरणा के कारण ब्रजवासी कृष्ण के मथुरा जाने को असम्भव नहीं बनाते, राधा भी ऐसी कोई बाधा नहीं उपस्थित करती। परन्तु कंस-वध होने पर भी जब कृष्ण वृन्दावन नहीं लौटते तब अवश्य सबके धैर्य का बाँध टूट जाता है। राधा तो जड़-चेतन का विवेक ही खो बैठी है। इसलिए सभी उस पर तरस खाने वाले हैं, सभी उसके संदेशवाहक हैं:—

भ्रान्ता हो के परम दुःख और भूरि उद्विग्नता से।
ले के प्रातः मृदुपवन को या सखी आदिकों को॥

यों ही राधा प्रगट करतीं नित्य थी वेदनायें।
नाना चिन्ता हृदयतल में वर्द्धमाना महा थीं॥

कुछ दिन बाद उद्धव कृष्ण का संदेशा लेकर व्रज आते हैं। कृष्ण के फिर वृन्दावन न आने का समाचार सुन व्रजांगना सहसा कँप उठती हैं, कलपने लगती हैं:—

कथन ऊधव का विनयों भरा।
विविध-भाव-अनूपम में पगा॥
श्रवण करती बन उत्सुका।
कलपती – कँपती – व्रजपांगना॥

परन्तु राधा हृदय पर पत्थर रखकर यह सब कुछ बड़ी शान्ति से सुनती है। यहाँ पर राधा का चरित्र बहुत ऊँचा उठ गया है। मानव हृदय की समस्त सबलता एवं दुर्बलता लिए हुए भी, राधा का जो दिव्यरूप यहाँ चमक उठा है उसीने उसे 'प्रिय-प्रवास' की अधिष्ठातृ देवी बना दिया है।

उद्धव द्वारा सेवा-व्रत में व्रती होने के कृष्ण-संदेश को वह बड़े संयम से शिरोधार्य करती है। परन्तु राधा के रक्त में लालिमा है, उसके हृदय में धड़कन भी है, उसे वह क्या करे। भरसक दबाते हुए भी चीख निकल ही पड़ती है।

"यत्नों द्वारा प्रतदिन अतः संयता मैं महा हूँ,
तौ भी देतीं विरह-जनिता-वासनाएं व्यथा हैं।

× × × ×

निर्लिप्ता और यदपि अति ही संयता नित्य मैं हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते।

वह अपने चारों ओर के फूल पत्ती नदी नालों से भी जी बह-लाया चाहती है। परन्तु हृदय की तरलता इतनी वेगवती है कि कर्त्तव्य-बुद्धि स्थिर नहीं रहने पाती। दोनों भावों का विचित्र संघर्ष हो रहा है। हृदय असमंजस में है—किंकर्त्तव्यविमूढ़ है। इतने में उसमें बल आता है, वह दोनों का स्वागत करती है दोनों को स्थान देती है:—

प्यारे आवें सुबयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंढे होवें नयन-दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ॥
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जगहित करें गेह चाहे न आवें॥

साहित्य में एक वह स्थिति होती है जब अपने लिए किसी बात के कहने में अड़चन होती है तो अपने लिये न सही दूसरे के लिए ही कह कर प्रिय की भावनाओं को उत्तेजित कर, किसी कार्य के करने के लिए प्रेरणा की जाती है। राधा कहती है मुझे

अपनी चिन्ता नहीं है। मैं तो मन मार कर बैठ सकती हूँ परन्तु मुझे तरस दूसरे गोपी गोपों पर आता है। इसलिए मुझे नहीं तो कम से कम इनको तो एक बार दर्शन देकर कृतार्थ कर दें:—

गोपी गोपों व्यथित ब्रज की बालिका बालकों को।
आके पुष्पानुपम मुखड़ा प्यार डूबा दिखावें॥

परन्तु इतने पर भी राधा बेहोश नहीं है, सुधबुध बिसारते हुए भी उसमें चेतना है। वह बिना शर्त के बुलाना नहीं चाहती—

बाधा कोई न यदि प्रिय के चारु कर्त्तव्य में हो।
तो वे आके जनक जननी की दशा देख जावें॥

यह चित्रण कितना मानव हृदय के अनुकूल बन पड़ा है। तुलसी ने भी कौशल्या से ऐसे अवसर पर अश्वों के मोह से ही राम से लौटने की प्रार्थना कराई है।

सब कुछ कह कर भी अन्तिम कामना राधा की यही है कि वह प्रिय के संदेश का अक्षरशः पालन करे।

आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे॥

उद्धव के चले जाने पर राधा गम्भीर हो जाती है। उसका समस्त चाञ्चल्य लुप्त हो जाता है। कृष्ण के अभाव में वृन्दावन भर की देखभाल उसी को तो करनी है। कभी वह दूसरी गोपियों

को अनेक प्रकार से सान्त्वना देती है तो कभी नन्द-यशोदा को प्रबोधती है—

जो थीं कौमार व्रत निरता बालिकाएँ अनेकों।
वे होती थीं बहु उपकृता नित्य श्री राधिका से ॥

× × × ×

यत्नों द्वारा जनक जननी श्याम के बोधने में।
की थी चेष्टा विविध परमा प्रेमिका राधिका ने ॥

वह दशा बड़ी भयंकर होती है, जब कि किन्हीं विचारों से हम रोकर अपने को हल्का भी नहीं कर पाते। दूसरों के आँसू पोंछने वाला अपने आँसू बहाने के अधिकार को खो बैठता है। राधा की भी यही दशा है। परन्तु वह भी तो आखिर हृदय रखती है। यशोदा के विह्वलता के साथ यह पूछने पर:—

क्या आवेंगे न अब व्रज में जीवनाधार मेरे।
तो वे धीरे मधुर स्वर से हो विनीता बतातीं।
हाँ आवेंगे, व्यथित व्रज को श्याम कैसे तजेंगे।

ऊपर से यह कहते हुए उसका अन्तःकरण रो उठता है, दो बूंद कपोलों पर टपक पड़ती हैं। यशोदा के यह सब कुछ देखने और सान्त्वना देने पर उसे होश आता है और साथ ही इस रूप को देख कर यशोदा के हृदय में होने वाले क्रन्दन का भी ध्यान आता

है। राधा सम्हल जाती है और बात पलट देती है—दूसरा समा-धान दे देती है—

होके राधा विनत कहती मैं नहीं रो रही हूँ।
आता मेरे युगलदृग में नीर आनन्द का है।

ज्यों-ज्यों समय बीतता है राधा का चरित्र निखरता जाता है। अब वह रोती-धोती नहीं। अभ्यास और परिस्थिति मनुष्य को प्रायः बहुत सहारा देते हैं। राधा भी इन दोनों से दृढ़ता प्राप्त करती है। कार्य में लगे रहने से जरा जी बट जाता है, फिर संघर्ष के युग में रहने वाले व्यक्तियों को तो हाथ पर हाथ रखे बैठना मानो सर्वनाश का आह्वान करना है। इसलिए वह स्वयं भी सदा कार्य-संलग्ना रहती है और यदि कहीं दूसरों को मन मारे बैठा देखती है तो उन्हें भी कार्य करने की प्रेरणा करती है।

होती मन मारे यदि कहीं गोप की पंक्ति बैठी।
किम्वा होता विकल उनको गोप कोई दिखाता।
तो कार्यों में विविध उनको यत्नतः लगाती।
और ए बातें कथन करती भूरि गंभीरता से।

जब भौतिक मिलन संभव नहीं रहता तो प्रिय के उद्देश्य को पूरा करने में ही प्रिय-मिलन का सा सुख अनुभव होने लगता है!

जी से जो आप सब करते प्यार प्राणेश को हैं।
तो या भू में पुरुष तन को खिन्न होके न बैठें।
उद्योगी हो परम रुचि से कीजिए कार्य ऐसे।
जो प्यारे हैं परम प्रिय के विश्व के प्रेमिकों के।

राधा का चरित्र यहाँ परम उज्ज्वल है। राधा द्वारा कवि ने जो प्रेरणा की है वह आधुनिक समाज के लिए सदैव आदर्शरूप रहेगी। हमारे भारतीय जीवन में इसी की बहुत दिन से कमी रही है। इसकी पूर्ति करना ही कवि का प्रिय-प्रवास की रचना में मुख्य लक्ष्य है। कवि को उचित भावों के लिए राधा जैसा उचित पात्र ही मिला है।

राधा ने अपने को ऐसा सहानुभूतिपूर्ण और कर्मठ बनाकर वस्तुतः कृष्ण के अभाव को बहुत कुछ हल्का कर दिया।

वे छाया थीं सुजन शिर की
आराध्या थीं व्रज अवनि की, प्रेमिका विश्व की थीं।

वह दिन धन्य होगा भारत के लिए, जब यहाँ के स्त्री-पुरुष इतने तरल हृदय होकर अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को पहचानेंगे। हम राधा की पूजा के सच्चे अधिकारी भी तभी हो सकेंगे। राधा के रूप में प्रियप्रवास द्वारा उपाध्याय जी ने हमें ऐसी आदर्श महिला दी है, जिसके अस्तित्व से प्रत्येक जाति गौरव

लाभ कर गिरी हुई दशा से अपने को उन्नत बना सकती है। उपाध्याय जी के शब्दों में राधा इतनी तपस्या के बाद सचमुच ऐसी ही बन पड़ी है—

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय-कलिका राजेन्दु-बिम्बानना।

× × × ×

रोगी वृद्धजनोपकार निरता सच्छास्त्र चिन्तापरा।
सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-संपोषिका।
राधा थीं सुमना प्रसन्न-वदना स्त्री जाति-रत्नोपमा॥

ऐसी प्रेयसी के लिए भला कृष्ण भी कैसे मथुरा में न विकल होते—

होगी हा! वह देवि मग्न अति ही मेरे वियोगाब्धि में।
जो हो संभव तात पोत बन के तो त्राण देना उसे।

मैथिलीशरण गुप्त का युग-प्रतिनिधित्व

गुप्त जी भी उपाध्याय जी की भाँति उन इने-गिने महारथी कवियों में से हैं जिनके सत्साहस और अदम्य उत्साह से आधुनिक हिन्दी-काव्य अपने युग का प्रतिनिधि-काव्य बनने का अधिकारी हो सका है।

गुप्त जी सन्धिकाल के कवि हैं। कई शताब्दी पूर्व भी एक ऐसा ही संधि का युग आया था जिसके पीछे घोर महारात्रि थी। जिसमें भक्तिकाल एवं रीतिकाल के अनेक चन्द्र और तारे चमके। कुछ-कुछ रास्ता सुझाने के लिए और मुख्यतः शान्ति से सोने में सहायता देने के लिए। वह काल समाज की क्षीण शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए विश्राम काल था। उसमें शक्ति एवं ओज का अबाधित प्रयोग अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारना था। अँधेरे में अपने और पराए की पहचान भी क्या हो सकती है? इसलिए उस युग में प्रेम की लोरियाँ—भक्ति परक रही हों अथवा शुद्ध शृंगार रूप में—सुलाने एवं समय काटने के बड़े काम की रहीं। परन्तु बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की संधि अपने पीछे महाप्रकाश एवं प्रचण्ड तेज लाई है। इसमें सब वस्तुओं को स्वच्छ एवं स्पष्ट रूप में देखने की स्वयं प्रकृति की ओर से प्रेरणा है। इस युग में हम सो नहीं सकते। हमें कुछ न कुछ कार्य अवश्य करना पड़ेगा। अपनी प्रेरणा से करें अथवा

दूसरों की प्रेरणा से। इसलिए इस काल को शक्ति या ओज के नाम से पुकारें तो अनुचित न होगा। इसी को कुछ क्रान्ति काल भी कहते हैं। परन्तु बाहर की परिस्थिति शारीरिक चैतन्य में ही सहायता दे सकती है, मानसिक चैतन्य तो प्रतिभाशाली कवियों द्वारा ही मिल सकता है। हिन्दी के सौभाग्य से हमें कुछ ऐसे ही जागरुक कवि मिल गये हैं, जिनके आश्रय में हम अपने कर्त्तव्य का सरलता से निश्चय कर सकते हैं।

प्रतिभा सब कवियों में प्रायः समान ही होती है। इसके बिना कवित्व-पद का कोई व्यक्ति अधिकारी हो ही नहीं सकता। अन्तर केवल परिस्थिति और साधनों का होता है। इसलिए इस युग के कवियों की रचनाओं में साहित्य के सूक्ष्म भेद-प्रभेद खोजना एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से मानव हृदय की कोमल भावनाओं, उनके चित्रण एवं उनके बाहुल्य को ही ढूँढ़ना समालोचक दृष्टि का तिरस्कार करना है। क्योंकि ऐसे युग में जब कि जड़ता, कट्टरता, अविश्वास एवं अस्थिरता का साम्राज्य हो, कवि को अपनी शक्ति एवं प्रतिभा का एक बड़ा भाग विरोधी शक्तियों का सामना करने, अपने रूप को स्थिर करने एवं अपने पाठकों के विचारों को अपने अनुकूल बनाने में व्यग्र करना पड़ता है। इसलिए इस युग में यदि किसी कवि की दृष्टि स्वच्छ है, प्राचीनता को यथावसर छोड़ने एवं परिवर्तित समय के अनुरूप

अपने को बनाने की क्षमता है, सूझबूझ है और साथ ही उसके हृदय में समाज-कल्याण के लिए बेचैनी है तो वह इस युग का प्रतिनिधि-कवि होने का सर्वथा अधिकारी है। यदि वह हमारी समस्याओं और विषम परिस्थितियों को समझता है, उन पर सहानुभूति-पूर्वक विचार करता है और ठीक दिशा का संकेत करता है तो वही इस युग का सबसे बड़ा कवि है। सौभाग्य से गुप्त जी इस कसौटी पर कसे जाने पर इस पद के पूर्ण अधिकारी उतरते हैं।

गुप्तजी ने कथावस्तु मुख्यतः रामायण तथा महाभारत से ली है। परन्तु उनका निर्वाह अपने युग के अनुरूप ही किया है। धर्म-भीरु होते हुए भी हृदय की ध्वनि तथा समय की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं कर पाये हैं। वैसे आपने छोटे बड़े अनेक काव्य लिखे हैं परन्तु साकेत की सृष्टि कर, आप जितने इस युग के हृदय के निकट आये हैं तथा मानवता के स्वाभाविक शुद्ध रूप में दर्शन कर पाए हैं, उतने कदाचित् अन्यत्र नहीं।

साकेत की सबसे बड़ी विशेषता बहुत अंश तक रूढ़ि का त्याग है। ऐसा करके कवि ने इस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता को पहचाना है। राम का नारायणत्व अब इस युग की वस्तु नहीं। हमें अब देवताओं के भेजे हुए, विष्णुलोक से नंगे पाँव दौड़कर आते हुए भगवान् की न आवश्यकता है और न उसमें विश्वास। समय

भी इसके अनुकूल नहीं। हमें तो महापुरुषों की आवश्यकता है, जो हमारे भाई-बन्धुओं में से ही आगे बढ़ आये हों और हमारे सुख-दुःख के भागी हों। परन्तु वैष्णव धर्म के संस्कार गुप्तजी से ऐसा न करा सके और युग ने वैसा न करने दिया। अन्ततः गुप्तजी को साकेत में क्षेत्र ही बदलना पड़ा, जिससे राम और सीता दोनों ही गौण हो गए। सब कुछ राम-सीता का होते हुए भी तूती लक्ष्मण और ऊर्मिला की ही बोलती है। इस महाकाव्य का नामकरण करते हुए भी कदाचित् यही कठिनता सामने आई। वैसे साकेत पढ़ने के बाद ऊर्मिला अनायास ही इस काव्य की आत्मा बन बैठती है, परन्तु राम और सीता के रहते हुए गुप्त जी को यह साहस न हुआ और साकेत नाम रखने पर विवश होना पड़ा।

दूसरी विशेषता साकेत द्वारा गुप्तजी के कवि हृदय की यह है कि उन्होंने ऊर्मिला-लक्ष्मण रूप में ऐसे दाम्पत्य जीवन की प्रतिष्ठा की है, जिसकी आवश्यकता इस काल में सब से अधिक है।

उर्मिला

उर्मिला साकेत की आत्मा है, स्वामिनी है और अधिक स्पष्टता से कहें तो सर्वस्व है। सुख-ऐश्वर्य में पली ऊर्मिला अपने मा-बाप की लाड़ली तथा अयोध्या की बहूरानी है। उसने अभी तक सुनहरे एवं रूपहरे दिन रात ही देखे हैं। संसार के किसी कोने में इनके अतिरिक्त कुछ और भी है, वह परिचित नहीं। आज राज्याभिषेक-रूप में उसे और भी सुख मिलेगा, इस कारण वह फूली नहीं समा रही। उत्सव के कार्य में संलग्न रहने से देर से सोई है परन्तु लक्ष्मण से पहले ही उठ गई है। ऐसे समय में नींद आती किसे है। उसका रोम-रोम खिल उठा है—लक्ष्मण देर से उठे हैं। दोनों को एक दूसरे पर व्यंग्य-बाण छोड़ने का अवसर मिल गया है—

उर्मिला बोली "अजी तुम जग गये ?
स्वप्ननिधि से नयन कब से लग गये ?"

लक्ष्मण ने तुरन्त ही तुर्की-बतुर्की उत्तर दिया, मात खाना उनके स्वभाव के विरुद्ध था—

"मोहिनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ।"

कितना शिष्ट, गम्भीर एवं तात्त्विक उपहास है। यहाँ हिन्दी जगत्

में प्रचलित स्वप्ननिधि तथा जागरण के स्त्रीलिंग और पुल्लिंग के भेद के कारण व्यंग को अवसर मिला है।

साकेत में उर्मिला के सौंदर्य की हमें चार झाँकी विभिन्न परिस्थितियों की मिलती हैं। एक प्रारम्भ में अभिषेक-दिन के प्रभात में। दूसरी लक्ष्मण के वन जाते समय, तीसरी चित्रकूट में और चौथी लक्ष्मण के पुनः मिलन में। इन अवसरों पर यह केवल सौंदर्य की झाँकीमात्र नहीं है, दाम्पत्य जीवन की झाँकी है, जो अप्रत्यक्ष रूप से हमारे युवक-युवतियों के लिए आदर्श ही उपस्थित नहीं करती, अपितु जीवन के आरोह-अवरोह और उसकी विषमता की चेतावनी भी देती है। हम क्रमशः इन चारों प्रसंगों की झलक-मात्र दे सकेंगे विशेष रूप के लिए पाठक साकेत का अध्ययन करें।

उर्मिला सोकर उठने के बाद प्रासाद में खड़ी है—

उर्मिला का सौंदर्य, उसकी वेषभूषा और उसके हाव-भाव युग की वस्तु हैं। स्वस्थ समाज के परिचायक हैं। किसी जाति या समाज को संघर्ष के युग में जीने के लिए उसके स्त्री-पुरुषों का पूर्ण स्वस्थ एवं प्रफुल्लवदन होना पहली शर्त है। गुप्तजी के हाथों उर्मिला के सौंदर्यरूप में युग-सौंदर्य की बड़ी सुन्दर सृष्टि हो गई है—

अरुण-पट पहने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में?

प्रकट-मूर्तिमती उषा ही तो नहीं ? कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं।

× × ×

कनक लतिका भी कमल सी कोमला, धन्य है उस शिल्पी की कला।

× × ×

और इसका हृदय किससे है बना, वह हृदय ही है कि जिससे बना।

× × ×

शाण पर सब अंग मानो चढ़ चुके, प्राण फिर उनमें पड़े जब गढ़ चुके।

× × ×

देखती है जब जिधर यह सुन्दरी, दमकती है दामिनी-सी द्युति भरी।

× × ×

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला, नाम है इसका उचित ही उर्मिला।

परन्तु ऐसा स्वर्गीय सौंदर्य शील से खाली नहीं। उसके देखने से विलासिता स्वयं लज्जित हो जाती है, दिव्यभाव स्थान ले लेते हैं—

शील सौरभ की तरंगे आ रहीं, दिव्यभाव भवाब्धि में है ला रहीं।

कृत्रिम प्रसाधनों में समय नष्ट करने की अपेक्षा ये पंक्तियाँ यदि हमारे हृदय में घर कर जायँ तो समाज का कायापलट ही हो जाय। बहुत-सी समस्याएँ अपने आप ही सुलझ जायँ।

दूसरा प्रसंग कारुणिक है। राम वन को जा रहे हैं, सीता को भी साथ ले चलने की स्वीकृति मिल चुकी है। लक्ष्मण भी जाने के लिए निश्चय कर चुके हैं परन्तु उर्मिला का क्या होगा ? उसकी स्वीकृति के विना जाना संभव नहीं—उचित भी नहीं। इस समय के सौंदर्य के चित्रण में कवि ने संकेत से काम लिया है, भावनाओं के चित्रण में लेखक पाठकों की संवेदना से अपील करता है। इस प्रणाली से ही ऐसी स्थिति का चित्रण संभव भी है—

"आह आः ! कितना सकरुण मुख था"

परन्तु केवल संकेत से काम नहीं चल सकता, अपनी अनुभूति का कुछ आभास तो देना ही चाहिए, जिसके सहारे पाठक भी कुछ रूप-रेखा बना सकें—

"आर्द्र-सरोज अरुण मुख था।"

यह दृश्य अनुभव की अपेक्षा रखता है, लेखनी इतने से अधिक चित्रित नहीं कर सकती।

तीसरा प्रसंग चित्रकूट का है। सीता ने बहाने से लक्ष्मण को कुटिया में पड़ी हुई उर्मिला से मिलने का अवसर दिया है। भीतर जाते ही लक्ष्मण ठक से रह जाते हैं। अभिषेक के पहले की कनकलतिका एवं कमला सी कोमला उर्मिला रेखा तथा छाया मात्र रह गई है—

"तो दीख पड़ी कोणस्थ उर्मिला-रेखा,
यह काया है या शेष उसी की छाया,
क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया।"

उर्मिला रेखामात्र भले ही रह गई, उसका ओज एवं साहस वैसा ही है। यही दिव्य-ओज एवं साहस है, जिसके सहारे आपत्ति के पहाड़ भी धूल की तरह उड़ा दिये जाते हैं। लक्ष्मण को झिझकता देख, वह तुरन्त ओज भरे शब्दों में कहती है—

मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी।"

ऐसे रमणी-रत्न को पाकर कौन अपने को धन्य न मानेगा? ऐसे रत्न को पाकर उसके योग्य बनने के लिए मानो लक्ष्मण सरीखे ओजस्वी को भी घोर तपस्या की आवश्यकता है, इसी हेतु मानो वे वन में आये हैं—

वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य,
भाभी की भगिनी, तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।"

चौथे प्रसंग को बिना दिये चित्र पूरा ही नहीं हो सकता—हमारा उद्देश्य भी अधूरा ही रह जायगा।

लक्ष्मण लौट आये हैं, वर्षों की मिलन-साध पूरी होने वाली है। रेखा और छाया मात्र रह जाने वाली, उर्मिला के रोम-रोम में

उल्लास छा गया है, उसमें उमंग-रंग दौड़ गया है। सखी यह अन्तर देख चकित रह जाती है, विवश हो पूछ ही बैठती है—

आली ने हँस कहा—'कहाँ ये रंग भरे थे ?'

सखी शृङ्गार सजने को कहती है, उर्मिला इतनी तपस्या के बाद इसकी आवश्यकता ही नहीं समझती—

हाय ! सखी, शृङ्गार ? मुझे अब भी सोहेंगे ?
क्या वस्त्रालङ्कार मात्र से वे मोहेंगे ?

उर्मिला को विश्वास है कि उसके लक्ष्मण कामुक नहीं हैं। वे उसके प्राणाधार हैं, उनके लिए शृङ्गार कैसा। पत्नी का शृङ्गार तो उसकी तपस्या और उसका पातिव्रत धर्म है। उसे किसी को रिझाना नहीं है, फिर कृत्रिम प्रसाधनों की सहायता से वह अपने हृदय को धोखा क्यों दे। उसने अपने को जैसा अछूता रखा है और जैसी वह है, उसी रूप में वह उनके सामने जावेगी—

नहीं नहीं, प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।
शूर्पणखा मैं नहीं—हाय, तू तो रोती है।
अरी, हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है।

अन्तिम पंक्तियों में कवि ने भवभूति के 'हृदयं त्वेव जानाति हृदयस्य वृत्तम्' 'हृदय ही हृदय के हाल को जानता है' भाव को

कैसे मौलिकरूप में अपनाया है।

उर्मिला सखी को अभ्युपगम-सिद्धान्त द्वारा कैसे सुन्दर ढंग से निरुत्तर करती हुई, एक वास्तविक अभाव की ओर संकेत करती है, जिसकी पूर्ति करना उसके वश में नहीं—

"तो, ला भूषण-वसन, इष्ट हों तुझको जितने।
पर यौवन-उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं?
वह खोया धन आज कहाँ सखि, पाऊँगी मैं?

इतने में ही उसका स्वाभाविक ओज चमक उठता है। परन्तु चंचल लहरी अब गंभीर हो चली है। साथ ही उसे अपने पातिव्रत धर्म का भी अभिमान है। जीवन की विषमता ने हृदय का परिष्कार कर दिया है—

विरह रुदन में गया, मिलन में भी मैं रोऊँ।
मुझे कुछ नहीं चाहिए, पद-रज धोऊँ॥
जब थी तब थी, आलि, उर्मिला उनकी रानी,
वह बरसों की बात, आज हो गई पुरानी।
अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी,
मैं शासन की नहीं, आज सेवा की प्यासी॥

पाठक देखें उर्मिला में कितना स्वाभाविक एवं मार्मिक परिवर्त्तन हो गया है. एक समय वह था जब दास-दासी नाम लेने

मात्र से उसके कान खड़े हो जाते थे। लक्ष्मण के यह कहने पर—

"धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ;
किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।"

उर्मिला तुरन्त तनक कर उत्तर देती है—

दास बनने का बहाना किस लिए ?
क्या मुझे दासी कहाना इसलिए ?

वही उर्मिला आज दासी बनने में गौरव समझ रही है। वस्तुतः प्रारम्भ में स्त्री अपने को कुछ समझती है, उसे उस कुछ का बड़ा नाज रहता है। इस कुछ के देने में पुरुष पर उसका बड़ा एहसान रहता है परन्तु कुछ दिन बाद जब वह कुछ नहीं रहता और पुरुष के पास सब कुछ खोकर भी उसके लिए बहुत कुछ रह जाता है, वह पुरुष की चेरी हो जाती है।

अब हम उस सार-भूमि पर आते हैं जिसके लिए उर्मिला ने इतनी साधना की है। यहाँ पर भी लेखक संकेत से ही काम लेता है। बहुत कुछ पाठकों की स्वयं अनुभूति के लिए छोड़ देता है। सखी से बातें हो ही रहीं थी कि लक्ष्मण सहसा आगये, उर्मिला सुध-बुध खो बैठी—जैसा कि प्रायः ऐसे अवसरों पर होता है—

देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी ?
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।

लेकर मानों विश्व विरह उस अन्तःपुर में,
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में ॥

कुछ भी हो उर्मिला अन्ततः स्त्री ही है, उसे ध्यान आता है कि यौवन के कैसे सुन्दर दिन बेकार गये। उसका हृदय चीत्कार कर उठता है—

"स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी मेरे।
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र, वे साँझ-सवेरे ॥
खोई अपनी हाय ! कहाँ वह खिल खिल खेला ?
प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला ?

लक्ष्मण की कैसी मार्मिक एवं समयोचित सान्त्वना है—

वह वर्षा की बाढ़ गई, उसको जाने दो,
शुचि-गम्भीरता प्रिये, शरद की यह आने दो।

× × × ×

जाता है जो समय प्रेमपूर्वक जाने दो ॥

इन वाक्यों से उर्मिला का हृदय कितना हरा होगया होगा। स्त्री को चाहिए क्या, उसका पति उसे अब भी शरद समझता है, तो वह सब कुछ है और वह सब कुछ पा गई, जिस पर तीनों लोक का सुख-सार निछावर है। ऐसे अवसर का आनंद उन्हीं के भाग्य में बदा है, जो जीवन के आरोह और अवरोह से डरते

नहीं और साहसपूर्वक विपमताओं का सामना कर अपने घर लौटते हैं। आहमात्र भरने वाले या केवल छुरी-काँटा लिए घूमने वालों से यहाँ की दिल्ली दूर है।

हम अतीत की दुहाई बहुत दिया करते हैं, हमें उसका पश्-तावा भी बहुत होता है—हमने सहस्रों वर्षों के जीवन में यही किया भी है, परन्तु इसी प्रसङ्ग में और साकेत के अन्त में गुप्त-जी लक्ष्मण के मुख से कैसे सुन्दर आदर्श वाक्य कहलाते हैं—

"अलक्ष की बात अलक्ष ही जाने,
समक्ष को ही हम क्यों न मानें?
रहे वहीं प्लावित प्रीतिधारा,
आदर्श ही ईश्वर है हमारा।"

अन्तिम पंक्ति में कैसी अच्छी व्यावहारिक परिभाषा गुप्तजी ने ईश्वर की दी है।

जिस समाज के दम्पति अलक्ष को छोड़ समक्ष को ही मानते हैं और उसी के अनुरूप अपने को बनाते हैं, वे दम्पति परम-सुन्दर हैं और जहाँ वे रहते हैं वहीं प्रीतिधारा भी बहती है।

इस प्रकार उर्मिला में सौन्दर्य के साथ ओजस्विता, प्रत्युत्प-न्नमतित्व, त्याग और सहिष्णुता चरम उत्कर्ष पर पहुँची पाते हैं।

उर्मिला और राधा

उर्मिला और राधा दोनों ही बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की विभूति हैं। दोनों का निर्माण ऐसे कुशल हाथों हुआ है, जो स्वयं मनुष्य की दुर्बलता एवं सबलता से परिचित हैं, जिन्होंने जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं और जिन्हें मानव और उसके समाज के सम्बन्ध में लिखने का अधिकार है।

दोनों समसामयिक कवियों से निर्मित होकर भी बाहर और भीतर से सर्वथा भिन्न हैं। एक ही उद्यान के दो फूल हैं, जिनका रंग, रूप और सौरभ सब ही कुछ अपना अलग अस्तित्व लिए-हुए है, परन्तु मोहकता में दोनों समान हैं। दोनों से ही युवक हृदय को स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है, इसलिए एक ही माला में दोनों बड़ी सरलता से गूँथे जा सकते हैं।

उर्मिला राजपरिवार की बेटी और वैसे ही राजपरिवार की बहू है। उसका लालन-पोषण मर्यादा, नियन्त्रण और बन्धन में हुआ है, ससुराल आकर भी वह स्वतन्त्र नहीं। सीता के समान प्रथम दर्शन पर ही वह भी लक्ष्मण के चरणों में अपने को समर्पित कर देती है। परन्तु चुनाव बुरा नहीं हुआ, सर्वथा स्वतन्त्र रह कर भी कदाचित् इससे अच्छा वर न पा सकी होती वह।

लेकिन इतना मात्र ही उसका अपना है बाकी तो जड़ मशीन के पुर्जे की भाँति चक्र में उसे घूमना पड़ा है। उसका जीवन एक-रूपता लिये हुए है, उसके चारों ओर पूर्णता है, अभाव का लेश नहीं। पारिवारिक विषमता के नाते एक दिन उस पर संकट का पहाड़ टूट पड़ता है उसका पति कुछ दिन के लिए उससे छिन जाता है। जो घड़ी भर के लिए दूर न हुए हों, उनके लिए सहसा विपत्ति का आजाना वस्तुतः बड़े दुःख की बात है। लक्ष्मण पुरुष-हृदय रखने के कारण सम्हल जाते हैं—धैर्य से काम लेते हैं। परन्तु उर्मिला धड़ाम से गिर जाती है—

इधर उर्मिला मुग्ध निरी—
कह कर "हाय !" धड़ाम गिरी।

राम सीता और लक्ष्मण बन चले जाते हैं। यह सब कुछ होते हुए भी घरेलू और राजकीय व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं। वे सब वैसे ही चल रहे हैं। उर्मिला को जो कुछ कष्ट है, वह यह कि प्रिय के दर्शन नहीं होते—वे दूर हैं जिन्हें आँखें नहीं देख सकतीं। लौट आने पर फिर वैसा ही सब हो जाता है। जो घाव हुआ था, वह भर गया—अच्छा हो गया कदाचित् चिह्न भी न रहा हो।

इधर राधा मध्यम श्रेणी के परिवार में जन्मी और वहीं

पाली पोसी गई। उसने अभी तक माता-पिता का ही प्यार पाया है, वहू बनने का उसे सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। उसके चारों ओर स्वच्छन्दता का राज्य है। वह अपने पड़ोसियों के घर जा सकती है, खेल-कूद सकती है, गली-कूचे अपनी उम्र के लड़के लड़कियों से छेड़खानी भी कर सकती है। उसे अपने सखा चुनने का भी अधिकार है। परन्तु हलके से पारिवारिक नियन्त्रण से वह भी बाहर नहीं।

खेलते-कूदते कब वह कृष्ण की हो गई, उसे स्वयं पता नहीं। वह विवाह जैसे कोमल सूत्र में कदाचित् कभी नहीं बँधी परन्तु जिस धागे में वह उलझ गई है, वह ऐसा दृढ़ है जहाँ से उद्धार पाना उसके लिए असम्भव है। उसे उलझने में ही सुख है और शान्ति है।

राधा के संसार में दिन और रात दोनों होते हैं। वहाँ अस्तित्व के लिए पग-पग पर संघर्ष करना पड़ता है। कंस के अत्याचारों की ज्वाला से दुध-मुँहे बच्चे भी परिचित हैं। वहाँ किसी बात का निश्चय नहीं कब क्या घटित हो जाय। राधा का संसार ऐसी जगह बसा है, जहाँ छोटे-मोटे ज्वाला तो निरन्तर ही फूटते रहते हैं, कब प्रलयंकर फूट निकले, इसका पता नहीं। ऐसे अनिश्चित संसार की वह रानी है। कंस की क्रूर दृष्टि सभी

पर है परन्तु कृष्ण मुख्य रूप से उसके कोपभाजन हैं। आकाश-वाणी के आधार पर वही उसके भाग्य के धूम्रकेतु हैं। सौभाग्य या दौर्भाग्य से यही कृष्ण उसके सर्वस्व हैं। कब वे उससे छीन लिए जायँ इसका पता नहीं। इसी अस्थिर पौधे की छाँह में वह अपने सुख-स्वप्न देखती है। एक दिन वह समय आया और उसके प्राण उससे छीन लिये गये। इस विछोह में कोई अवधि नहीं। प्राणों के लाले हैं, लौटने की कौन कहे? कंस वध हुआ भी तो राज्य व्यवस्था का भार, ऐसी दशा में भी पुनर्मिलन की आशा नहीं। जैसी जिस पर पड़ती है भुगतनी ही पड़ती है। एक ही प्रकार की मिट्टी से बने, एक ही प्रकार का जिनमें रक्त बहता है, समय और परिस्थिति के इस फेर से सर्वथा कैसे भिन्न हो जाते हैं, राधा और उर्मिला उसके सजीव चित्र हैं।

दोनों चित्रकारों की तूलिका एक ही सी है, रंग भी वही हैं केवल अन्तर उस भूमिका का है जहाँ वे चित्रित किये गये हैं। इतने मात्र अन्तर से दोनों रूप-रेखा और भाव-भंगी में सर्वथा भिन्न हैं। दोनों की आह और आँसू भी भिन्न हैं। उर्मिला लक्ष्मण के वन जाते समय विछोह को सहन न कर सकने के कारण धड़ाम से गिरती है, राधा का हृदय कृष्ण के विछोह से पहले से ही आशंकित था, सब कुछ सहने के लिए उसने अपने को इसलिए

तयार भी कर लिया था और जब वह अवसर सिर पर आ ही जाता है तो वह साहस बटोर कर सम्हल जाती है। परन्तु व्यथा कितनी असह्य है इसका चित्रण कवि ने बड़ी सजीवता से किया है—

विकसिता-कलिका हिमपात से,
तुरत ज्यों बनती अति म्लान है।
श्रवण से बलवीर-प्रवास के
मलिन त्यों वृषभानु सुता हुई॥

आगे बढ़ कर उर्मिला सबको खिला-पिला कर भी सेवा को नीरस समझती है, क्योंकि उस सब में उसके पति का सहयोग नहीं एवं उसके बिना यह सब व्यर्थ है।

बनाती रसोई सभी को खिलाती,

× ×

रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोना-सलोना ?

परन्तु राधा समस्त संसार को कृष्णरूप में देखती है और विश्व के सुख-दुःख को कृष्ण का सुख-दुःख समझती है। उनकी सेवा में आनन्द का अनुभव करती है—

तो मैं कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा।

उर्मिला अपने जैसे दुःखियों की खोज में है उनकी सेवा के लिए नहीं बल्कि अपना दुःख बटाने के लिए। उसे यदि कुछ सुख मिल सकता है तो दुःखियों से ही—

"सुख दे सकते हैं तो दुःखी जन ही मुझे, उन्हें यदि भैंटूँ"
जब उसे कोई नहीं मिलता तो वह और भी दुःखी होती है—

इतनी बड़ी पुरी में, क्या ऐसी दुःखिनी नहीं कोई ?
जिसकी सखी बनूँ मैं, जो मुझ-सी हो हँसी-रोई ?

राधा भी दुःखियों की खोज में है परन्तु मन बहलाने के लिए नहीं, उनको सान्त्वना देने के लिए—उनके कष्ट को दूर करने के लिए। वह सबका कष्ट, सब की व्यथा अपने सिर ओटने को तयार है—

खो देने में विरह जनिता-वेदना-किल्विषों को।
ला देने में व्यथित-चित्त में शान्ति-भावानुकूला ॥
यत्नों द्वारा जनक जननी श्याम के बोध में।
की थी चेष्टा विविध परमा-प्रेमिका राधिका ने ॥

× × × ×

पाई जाती दुःखित जितनी अन्य गोपांगना थीं।
राधा-द्वारा-सुखित वह भी थी यथारीति होतीं।
गा के लीला-स्व-प्रियतम की वेणु वीणा बजा के।
बातें प्यारी विविध कह के वे उन्हें बोध देतीं॥

उर्मिला और राधा के इस रूप में जो अन्तर भासित होता है, वह केवल परिस्थिति का है। उर्मिला के लक्ष्मण पारिवारिक व्यक्ति हैं, वे राज्य की मशीन के एक पुर्जे हैं। इसलिए लक्ष्मण के वन जाने पर जनता में कोई बेचैनी नहीं। सब के दिन सुख से बीत रहे हैं। केवल उर्मिला ही ऐसी है जिसका रोम-रोम रो रहा है। ऐसी दशा में उसे भी दुनिया की क्या चिन्ता? परन्तु राधा के हृदय-सम्राट उसके अतिरिक्त औरों के भी हैं। अपने प्रिय के दुःख से दुःखी होने वाले का कष्ट अपने से भी अधिक दुःखदायी हो जाता है, इसलिए अपनी सुध-बुध खोकर औरों के लिए दौड़ पड़ना राधिका के लिए स्वाभाविक ही है।

अन्ततः उर्मिला चञ्चल है, उग्र है, दूसरों के सुख से ईर्ष्या करने और उनके दुःख से सहानुभूति रखने वाली है, वह ओजस्विनी है, उसमें चमक है तथा वह ऐश्वर्य की उष्णता में व्याप्त है। वह उषा समान क्षितिज में आती है। क्षण-क्षण उसका सुनहरा रूप निखरता एवं दिव्य होता जाता है। वह सुख-संसार की

जाज्वल्यमान ज्योति है परन्तु दुःख की महारात्रि और उसकी कालिमा के समक्ष वह ठहर नहीं पाती स्वयं भी काली पड़ जाती है। सुध-बुध खो बैठती है और विक्षिप्त की भाँति रात्रि भर भटकती फिरती है। क्षण भर चैन नहीं लेती। अपने खोये रूप को, पद को पुनः प्राप्त कर ही चैन लेती है और फिर उषाकाल के उसी दिव्यरूप में चमकने लगती है।

राधा सात्विक है, शान्त है और पर-दुःख-कातर है। वह क्षितिज में द्वितीया के चन्द्र समान आती है, अपनी दिव्य किरण से सबको शान्ति देती है और सबसे सम्मानित होती है। पूर्ण बनने के लिए न मालूम कितने दिन-रात में उसे गलना पड़ता है। अपने अथक परिश्रम और सात्विक तेज से उत्तरोत्तर चमकती ही जाती है, जब तक पूर्ण चन्द्र होकर अन्धकार की कालिमा को धोकर उसे रूपहरी नहीं बना देती। उसके आश्रय में समस्त प्राणी सुख की नींद सोते हैं, रस पाते हैं, उसी के समान दिव्य बनने के लिए।

हमारे लिए दोनों ही स्तुत्य एवं उपादेय हैं। दोनों के बिना हमारा जग सूना है।

पाई जाती दुःखित जितनी अन्य गोपांगना थीं।
राधा-द्वारा-सुखित वह भी थी यथारीति होतीं।
गा के लीला-स्व-प्रियतम की वेणु वीणा बजा के।
बातें प्यारी-विविध कह के वे उन्हें बोध देतीं॥

उर्मिला और राधा के इस रूप में जो अन्तर भासित होता है वह केवल परिस्थिति का है। उर्मिला के लक्ष्मण पारिवारिक व्यक्ति हैं, वे राज्य की मशीन के एक पुर्जे हैं। इसलिए लक्ष्मण के वन जाने पर जनता में कोई बेचैनी नहीं। सब के दिन सुख से बीत रहे हैं। केवल उर्मिला ही ऐसी है जिसका रोम-रोम रो रहा है। ऐसी दशा में उसे भी दुनिया की क्या चिन्ता? परन्तु राधा के हृदय-सम्राट् उसके अतिरिक्त औरों के भी हैं। अपने प्रिय के दुःख से दुःखी होने वाले का कष्ट अपने से भी अधिक दुःखदायी हो जाता है, इसलिए अपनी सुध-बुध खोकर औरों के लिए दौड़ पड़ना राधिका के लिए स्वाभाविक ही है।

अन्ततः उर्मिला चञ्चल है, उग्र है, दूसरों के सुख से ईर्ष्या करने और उनके दुःख से सहानुभूति रखने वाली है, वह ओजस्विनी है, उसमें चमक है तथा वह ऐश्वर्य की उष्णता से व्याप्त है। वह उषा समान क्षितिज में आती है। क्षण-क्षण उसका सुनहरा रूप निखरता एवं दिव्य होता जाता है। वह सुख-संसार की

जाज्वल्यमान ज्योति है परन्तु दुःख की महारात्रि और उसकी कालिमा के समक्ष वह ठहर नहीं पाती स्वयं भी काली पड़ जाती है। सुध-बुध खो बैठती है और विक्षिप्त की भाँति रात्रि भर भटकती फिरती है। क्षण भर चैन नहीं लेती। अपने खोये रूप को, पद को पुनः प्राप्त कर ही चैन लेती है और फिर उषाकाल के उसी दिव्यरूप में चमकने लगती है।

राधा सात्विक है, शान्त है और पर-दुःख-कातर है। वह क्षितिज में द्वितीया के चन्द्र समान आती है, अपनी दिव्य किरण से सबको शान्ति देती है और सबसे सम्मानित होती है। पूर्ण बनने के लिए न मालूम कितने दिन-रात में उसे गलना पड़ता है। अपने अथक परिश्रम और सात्विक तेज से उत्तरोत्तर चमकती ही जाती है, जब तक पूर्ण चन्द्र होकर अन्धकार की कालिमा को धोकर उसे रूपहरी नहीं बना देती। उसके आश्रय में समस्त प्राणी सुख की नींद सोते हैं, रस पाते हैं, उसी के समान दिव्य बनने के लिए।

हमारे लिए दोनों ही स्तुत्य एवं उपादेय हैं। दोनों के बिना हमारा जग सूना है।

युग-प्रवर्त्तक जयशंकरप्रसाद 'प्रसाद'

प्रसाद जी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के कदाचित् सबसे अधिक युगान्तरकारी तथा जागरूक कवि हैं। कुशल वैद्य समान उनका निदान और उनकी चिकित्सा दोनों ही सही और सद्यः फलदाता हैं। अपने युग के परिवर्त्तनों का जितना अधिक प्रभाव प्रसाद जी के कोमल हृदय पर पड़ा और जिस तत्परता से उन्होंने उनका स्वागत किया, उतना कदाचित् ही उनके समसामयिक किसी दूसरे कवि ने किया हो। जहाँ दूसरे कवि उषा काल में आँख मलते हुए उठे, प्रसाद का हृदय पद्म समान विकसित एवं प्रफुल्लित हो उठा, मानो वह इस परिवर्त्तन की पहले से ही प्रतीक्षा कर रहा हो और साथ ही साथ तयार भी हो लिया हो। प्रसाद ने पुरानी रूढ़ियों, परम्पराओं और कट्टरपन का किंचिन्मात्र भी मोह नहीं किया। जिस रच-नात्मक ढंग और कौशल से प्रसाद ने इस मोहान्धकार को युवक-हृदय से दूर करने का प्रयत्न किया, वैसा साहस अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ अदूरदर्शी तो इस महाकवि के मर्म को न समझ कर उलटे इसी पर टूट पड़े और वाग्बाणों की वृष्टि करने लगे। परन्तु इस कवि ने स्वभाव-सुलभ-मुस्कान में उनकी उपेक्षा की और अपनी मौत ही मरने के लिए उन्हें छोड़ दिया। प्रसाद जी अपने समय की किसी गुटबन्दी में भी न पड़े और 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' 'मुरारि का सबसे

निराला रास्ता है।' के समान अपनी धारा अलग ही आजीवन बहने दी।

प्रसाद जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। जिस क्षेत्र को छुआ चमका दिया। किसी क्षेत्र में अपूर्ण रहना कदाचित् उनके भाग्य में भी नहीं लिखा था। वे उपन्यासकार हैं, कहानी लेखक हैं, नाटककार हैं और सफल कवि हैं। परन्तु इन सब दिशाओं में प्रसाद अपने व्यक्तित्व, लगन और आदर्श में एक ही हैं। उनका हृदय दीप-शिखा समान उनकी कृतियों में देदीप्यमान है। जिसके प्रकाश में कोई भी उनके स्वरूप को और उनके लक्ष्य को सरलता से समझ सकता है और इच्छा हो तो वहीं अपने हृदय में भी ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित कर सकता है। प्रसाद ने युवक-हृदय को और उसकी कोमल भावनाओं को जिस सहृदयता से समझा है और चित्रित किया है, उससे वे युवक-हृदय के वेमुकुट के हृदय-सम्राट् हो गये हैं। उनके अभाव में भी, उस आसन के अधिकारी होने के लिए कितना समय लगेगा, यह तो भविष्य ही बता सकता है।

प्रेमवृत्ति के कोमल से कोमल तारों को झंकृत करके भी असर्यादिता या फूहड़पन को उन्होंने अपने भरसक नहीं आने दिया है। इस बात को बड़े-बड़े परहेजगारों ने भी माना है और मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की है। समाज के जघन्य से जघन्य प्रसङ्गों को चित्रित करके

भी प्रसाद उसकी नग्नता को बड़े कौशल से बचा गये हैं। क्योंकि उनका अपने मन, वचन और वाणी पर समानरूप से अधिकार है, सब में सामञ्जस्य है और संयम है। उनकी रचना प्रेम-प्रधान समझी जाती है परन्तु वह प्रेम कलुषित एवं वासना पर आधारित कदापि नहीं है। कवि का उद्देश्य जड़ हृदयों में लाल रक्त का संचार करना है। वह उबाल एवं ज्वार लाना चाहता है, केवल सबल बनाने के लिए, विलासी बनाने के लिए नहीं। उसने इस प्रेम को स्वर्गीय रखा है, कलुषित धरातल पर एक बूँद भी नहीं पड़ने दी है। हृदय द्वारा हृदय तक पहुँचाया है। स्वयं रोकर रोना सिखाया है। उसके 'आँसू' हिन्दी साहित्य की निधि हैं। वे उज्ज्वल हैं, तरल होते हुए मोती समान ठोस हैं, टिकाऊ हैं। उसका हृदय-सरोवर निकट प्रतीत होता हुआ भी इतना दूर टेढ़ी-तिरछी पगडंडियों से भरा है कि वहाँ अनधिकारी की गति नहीं और जो वहाँ तक पहुँचते हैं, उनको इतना मानसिक परिश्रम हो जाता है कि वहाँ पहुँचने पर तन, मन की सुध ही नहीं रहती। रससिक्त होकर किनारे लगने पर हम अपने को सर्वथा बदला हुआ पाते हैं। हमारा कायाकल्प हो जाता है, नई स्फूर्ति, नया जीवन, नई दृष्टि और नए उद्देश्य को लेकर वहाँ से आते हैं।

संक्षेप में प्रसाद जी ने जिन स्त्री-पुरुषों की सृष्टि की है वे लौकिक

हुए भी दैवी हैं, स्कन्दगुप्त में देवसेना के शब्दों में
ाको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी"
ावि इस प्रकार स्कन्दगुप्त के हाथों से आर्य-गौरव की ध्वजा
ल नहीं होने देता, वह कलुषित प्रेम का पुजारी कैसे हो सकता
ारन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वहाँ प्रेम का अभाव है—
ना "सम्राट् क्षमा हो। इस हृदय में......आह। कहना ही
स्कन्दगुप्त को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया और न
जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी
पासना करने दीजिए, उसे कामना में फँसा कर कलुषित न
ाए। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब
के बदले कुछ लिया नहीं चाहती।" आत्म संयम एवं आत्म-
र्पण का इससे अच्छा उदाहरण कहाँ मिलेगा?

प्रसाद तो प्रेमाग्नि प्रदीप्त करना चाहते हैं, जिसके प्रज्वलित
पर सब दोष स्वयं ही भस्मसात् हो जाते हैं। प्रसाद प्रेम
पाठ पढ़ाते हैं—कष्ट सहने योग्य बनने के लिए। न वे पञ्चाग्नि
ते हैं और न वासना की अग्नि में ढकेलते हैं। उनका उद्देश्य
स्त्री-पुरुषों की सृष्टि करना है, जो मस्तक ऊँचा किये, वक्षःस्थल
ये, भुजाओं में आर्य-गौरव की दीपशिखा लिए सर्दी-गर्मी सहते
एवं एक-एक मुस्कान पर हजारों आपदाओं की उपेक्षा करते हुए

अबाधगति से बढ़ते चले जायँ तथा जिनके लिए सारी दिशाएँ भुजा बढ़ाए खड़ी हों, स्वागत करने के लिए, सर्वस्व निछावर करने के लिए। ऐसे हृदय देवसेना के आदर्श-वाक्य से ही बन सकते हैं—

"देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट्! यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता और उस जीवन के प्राण! क्षमा!" जब हम वासना-साहित्य की इस उच्चभूमि पर पहुँच जायँ, तभी मानवता के सच्चे पुजारी हो सकते हैं अन्यथा नहीं। अपना मानसिक धरातल उच्च किये बिना प्रसाद को समझना, अपना समय नष्ट करना एवं कवि की आत्मा का अपमान करना है।



कामायनी

कामायनी के कथावस्तु-चुनाव में प्रसाद और भी ऊँचे उठ गये हैं। कथावस्तु का ऐतिहासिक पहलू ही प्रसाद जी को कामायनी में अपेक्षित है परन्तु आपको उसके सांकेतिक-अर्थ के स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं है। हमारे लिए दोनों ही उपादेय हैं। मानव समाज के उतार-चढ़ाव की क्रमिक आत्म-कहानी ही इतिहास है, वह हमारे लिए सदैव पथ-प्रदर्शक रहा है। हम अतीत के उत्थान एवं पतन में साहस और आशा की चिनगारियों को बटोर कर ही भविष्य को उज्ज्वल बनाते रहे हैं। दूसरी ओर प्रकृति-नटी की अँगुलियों पर ही मनुष्य सदा नाचता रहा है, हमारा भौतिक स्वरूप तो उसका आवरण मात्र है। अकेला मन अनेकधा फैल कर कितने रूप ग्रहण कर लेता है, लेखक ने अपने 'आमुख' में इसे इस प्रकार स्वीकार किया है—

"मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"

संक्षेप में कथावस्तु इस प्रकार है—सृष्टि के प्रलय के बाद केवल मनु बच गये। मनु का संसार अस्तित्व से अनिस्तत्व में परिणत हो गया। इस स्वरूप से वे चिन्तित हो उठे। चिन्ता की कालिमा में से आशा की शुभ्र ज्योत्स्ना फूट निकली। पानी छँटने लगा, संसार रूपहरा हो गया। "एकोऽहं बहु स्याम्—एक से अनेक हो जाऊँ" वाली ईश्वरीय प्रेरणा से रूपहरी आशा भली प्रतीत हुई—जीवित रहने का मोह हुआ। यही मोह-माया श्रद्धारूप में मनु की सहचरी हुई। श्रद्धा का ही वैदिक नाम कामायनी है। मनु फिर संसारी व्यक्ति हो गये—उसी पुराने झमेले में पड़ गये। काम और वासना से प्रेरित होकर इधर-उधर कुछ दिन इड़ा—बुद्धि के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर भटके भी परन्तु फिर श्रद्धा को प्राप्त कर आनन्द के भागी हुए।

आनन्द-प्राप्ति तक मनु को कई कक्षाओं को पार करना पड़ा। कामायनी में इन्हीं का क्रमिक रूप कई अध्यायों में निरूपित किया गया है। अध्यायों के शीर्षक से ही विषय का आभास बड़ी सरलता से मिल जाता है, जो कि इस प्रकार है—चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द।

'इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता रहता है' के अनुसार इतने काल

[illegible]

बाद भी आज का संसार भी मनु की तरह चिन्तित है। उसका सर्वस्व अनिश्चित है, अस्थिर है। अन्तर केवल यह है कि मनु के प्रलय का चरम रूप जल-प्लावन था और हमारे प्रलय का अग्नि-प्लावन। वह ईश्वरीय प्रेरणावश था, आज के प्रलय के कर्त्ता धर्ता हम स्वयं हैं। मनु प्रलय के अन्तिम छोर पर बैठे चिन्तातुर थे, हम इसी किनारे उसका आभास पाकर विक्षुब्ध हो रहे हैं। कवि ने उसके वीभत्स रूप का चित्रण कर समय रहते हमें सम्हलने की स्पष्ट चेतावनी दी है।

चिन्ता की राख के ढेर के अन्दर ही आशा के स्फुलिङ्ग छिपे हुए हैं। जो इनको बटोर कर सुलगा लेते हैं, उनका जीवन फिर वैसा ही ज्योतिष्मान हो जाता है। सब नश्वर है, आशा ही अमर है, जो सफल को अग्रसर करती है और असफल को भी अपने क्रोड़ में छिपा कर जीवनदान देती है। आशा का उदय होते ही भीतर ही भीतर कैसी गुदगुदी और मीठी व्याकुलता होने लगती है, प्रसाद जी ने बड़ी सुन्दरता से इसका चित्रण किया है—

यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल
सदय हृदय में अधिक अधीर;

व्याकुलता सी व्यक्त हो रही
आशा बन कर प्राण समीर।

जीवित रहने की फिर से चाह पैदा हो जाती है। मनुष्य स्वयं ही प्रश्न कर उठता है—

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,—
जीकर क्या करना होगा ?
देव ! बता दो अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा ?

परन्तु आशा ने भला कब किसी को मरने दिया है, वह तो जड़ और अन्धकार पूर्ण संसार को आते ही चेतन और रुपहरा तथा सुनहला बना देती है—

एक यवनिका हटी, पवन से
प्रेरित माया पट जैसी ;
और आवरण मुक्त प्रकृति थी,
हरी भरी फिर भी वैसी।

इस स्वरूप को देखते ही मनु के हृदय में शक्ति और जागरण के तार प्रबल होकर चमकने लगे—क्यों? कुछ अनन्त शक्ति फिर प्राप्त हो गई—

शक्ति और जागरण चिह्न-सा
लगा धधकने अब फिर से।

हाथ पर हाथ रखे हुए चिन्तातुर और म्लान मनु फिर से अरुणोदय समान प्राची चीर कर कर्म-भूमि में कूद पड़े—

उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कान्त;

सुर संस्कृति मनु पर कर्ममयी शीतल छाया डालने लगी—

सजग हुई फिर से सुर संस्कृति,

× ×

उन पर लगी डालने अपनी
कर्ममयी शीतल छाया।

और मनु लुब्ध नयन से प्रकृति की मनोहर और शान्त विभूति देखने लगे—

लगे देखने लुब्ध नयन से
प्रकृति विभूति मनोहर शान्त।

इस प्रकार दोनों के अभाव आशा सूत्र में बँध कर पूर्ण हो गये। प्रकृति को पुरुष मिल गया और पुरुष को प्रकृति। उजड़ा संसार फिर बस गया।

क्या हमारे बसे हुए संसार को उजड़ने न देने तथा ऐसा ही हरा-भरा रखने में मनु की आशा उनकी सन्तान की सहायता न करेगी। प्रसाद ने कामायनी की सृष्टि कर बीसवीं शताब्दी के चिन्तित हृदय में इसी 'आशा' की चिनगारी डाली है। इसको सुलगा कर मनु बनना हमारा काम है।

भूदेव शर्मा

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय
'हरिऔध'

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
का संक्षिप्त परिचय

उपाध्याय जी निजामाबाद जिला आजमगढ़ के निवासी हैं । इनकी जन्म-तिथि वैशाख कृष्ण ३, संवत् १९२२ है । सिख साधु बाबा सुमेरसिंह के सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण सनाढ्य ब्राह्मण होते हुए भी इनके नाम के अन्त में सिखों की भांति 'सिंह' शब्द लगा हुआ है । संवत् १९३६ में मिडिल और संवत् १९४४ में नार्मल परीक्षा पासकर आप अपने जन्म-स्थान के मिडिल स्कूल में ही अध्यापक होगए । संवत् १९४६ में कानूनगो हुए। क्रमशः उन्नति करते-करते सदर-कानूनगो के पद तक पहुँचे । बीस वर्ष तक निरन्तर सेवा करने के बाद सन् १९२३ में अवकाश ग्रहण कर हिन्दू-विश्व-विद्यालय, काशी चले गये और वहाँ अवैतनिक रूप से अध्यापन कार्य करने लगे । तब से आप वहीं ब्राह्मण वृत्ति से सरस्वती की आराधना एवं सेवा कर रहे हैं । इस प्रकार इनका जीवन एक तपस्वी का जीवन रहा है। लोभ तो इनको छू तक नहीं गया है, अन्यथा कानूनगो जैसे पद पर उस समय पर्याप्त मात्रा में धन बटोर सकते थे । उपाध्यायजी उन थोड़े से व्यक्तियों में से

हैं, जो सब के प्रिय होते हैं। इनके से सरल और सात्त्विक जीवन से कौन स्पृहा न करेगा।

पहले इन्होंने ब्रजभाषा में ही कविता करनी प्रारम्भ की परन्तु बाद में खड़ी बोली में रचना करने लगे। उपाध्याय जी हिन्दी में कवि सम्राट् माने जाते हैं। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों पर इनका समान अधिकार है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य को सर्वगुण-सम्पन्न बनाने वालों में ये अग्रणी हैं। खड़ी बोली में महाकाव्य रूप में 'प्रियप्रवास' की रचना कदाचित् सबसे पहली है और अभी तक अपना अलग स्थान रखती है। इस रचना से पहले लोगों की धारणा थी कि खड़ी-बोली सरस कविता के उपयुक्त नहीं है, प्रियप्रवास इसका मौन एवं मूर्तिमान उत्तर है। 'प्रियप्रवास' में आपने और भी कई अभावों की पूर्ति की है। इसकी भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है, छन्द भी संस्कृत के अपनाये गये हैं, सम्पूर्ण काव्य भिन्न तुकान्त रखा गया है। विषय पुराना होते हुए भी दृष्टिकोण इनका अपना है। पहले के कवियों ने कृष्ण को भगवान् रूप में या शृंगारी रूप में ही लिया था परन्तु इन्होंने प्रियप्रवास में कृष्ण को महापुरुष रूप में चित्रित किया है। महाकाव्य को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए सभी संभव साधनों का सहारा लिया है।

कवि इस दिशा में पूरी सफलता प्राप्त करने के बाद सरल बोल-चाल की ओर झुके हैं। 'बोल-चाल', 'चुभते-चौपदे' और 'चोखे-चौपदे' इनके सफल उदाहरण हैं। इन ग्रन्थों में मुहावरों का प्रयोग ठेठ बोली में बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। छन्द भी उर्दू के रखे गये हैं। अनेक रूप

से हिन्दी काव्य की श्रीवृद्धि करने में इन काव्यों का मुख्य स्थान है। 'पद्य-प्रसून' में क्लिष्ट एवं सरल दोनों प्रकार की कविता संगृहीत है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उन्होंने व्रजभाषा को सर्वथा बिसरा ही दिया हो। बीच-बीच में व्रजभाषा में भी ये सुन्दर कविता रचते रहे हैं। 'रस-कलश' नामक काव्य में ऐसी कविताओं का ही संग्रह है।

उपाध्यायजी अब कुछ गम्भीर चिन्तन की ओर झुके हैं जो कि इस आयु में स्वाभाविक ही है। आपके 'स्वर्ग संगीत' में प्रौढ़ अवस्था के परिपक्व विचारों के साथ-साथ दार्शनिकता की गहरी छाप है।

उपाध्यायजी केवल कवि ही नहीं है, ये गद्य भी बड़ा सुन्दर लिखते हैं। उपन्यास लेखन में भी सिद्धहस्त हैं। गद्य के वेनिस का बांका, नीति-निबन्ध, विनोद वाटिका, ठेठ हिन्दी का ठाठ, हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास आदि ग्रन्थ गद्य के ग्रन्थों में मुख्य हैं। इस प्रकार उपाध्यायजी अनेक दिशा में रचना कर जिस स्थान के अधिकारी हो गये हैं वह औरों के लिए प्राप्त करना सुगम नहीं है।

सेवापरा राधा

वंशस्थ छन्द ।

विमुग्ध-कारी मधु-मास-मंजु था ।
वसुंधरा थी कमनीयता-मयी ।
विचित्रता-साथ विराजिता रही ।
वसंत-वासंतिकता वनान्त में ।।

नवीन-भूता वन की विभूति में ।
विनोदिता-वेलि विहंग-वृन्द में ।
अनूपता व्यापित थी वसंत की ।
निकुंज में कूजित-कुंज-पुंज में ।।

निसर्ग ने सौरभ ने पराग ने।
प्रदान की थी अति-कान्त-भाव से।
वसुंधरा को पिक को मिलिन्द को।
मनोज्ञता मादकता मदांधता॥

वसंत-माधुर्य्य - विकाश - वर्द्धिनी।
क्रिया-मयी मार-महोत्सवांकिता।
सु-कोपलें थीं तरु-अंक में लसीं।
स-अंगरागा अनुराग-रंजिता॥

नये नये पल्लव-वान पेड़ में।
प्रसून में आगत थी अपूर्वता।
वसंत में थी अधिकांश-शोभिता।
विकाशिता-वेलिलता-प्रफुल्लिता॥

अनूप-स्वर्गीय-सुगंध में सना।
सुधा बहाता धमनी-समूह में।
समीर आता मलयाचलांक से।
किसे बनाता न विनोद-मग्न था॥

कुमारी

प्रसादिनी-पादप, गंध - वर्द्धिनी ।
विकासिनी-पुष्प, लता-विनोदिनी ।
अलौकिकी थी मलयानिली-क्रिया ।
विमोहिनी-चित्त, विहंग-मोदिनी ॥

वसंत-शोभा प्रतिकूल थी बड़ी ।
वियोग-मग्ना ब्रज-भूमि के लिये ।
बना रही थी उसको व्यथा-मयी ।
विकास-पाती वन-पादपावली ॥

दृगों उरों को दहती-अतीव थीं ।
शिखाग्नि-तुल्या तरु पुंज-कोंपलें ।
अनार-शाखा कचनार-डाल थी ।
प्रतप्त - अंगारक - पुंज - पूरिता ॥

प्रसून की मोहकता-मनोज्ञता ।
नितान्त थी अन्य-मनस्कता मयी ।
न वाँछिता थी न विनोदनीय थी ।
अ-मानिता हो मलयानिलीयता ॥

बड़े-यशस्वी-वृष-भानु गेह के।
समीप थी एक विचित्र-वाटिका।
प्रबुद्ध-ऊधो इस में इन्हीं दिनों।
प्रबोधने श्री-व्रज-देवि को गये॥

वसंत को पा यह शान्त वाटिका।
स्वभावतः-कान्त-नितान्त थी हुई।
परन्तु होती उसमें स-शान्ति थी।
विकाश की कौशल-कारिणी-क्रिया॥

इसी तपो-भूमि-समान-वाटिका।
सु-अंक में सुन्दर एक-कुंज थी।
समावृता-श्यामल-पुष्प संकुला।
अनेकशः-वेलि-लता-समूह से॥

विराजती थीं वृष-भानु-नन्दिनी।
इसी बड़े-नीरव-शान्त-कुंज में।
अतः यहीं श्रीबल-वीर-बन्धु ने।
उन्हें विलोका अलि-वृन्द-आवृता॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

प्रशान्त-म्लाना-वृषभानु-पुत्रि, की।
समीप आके अवलोक देवि-सी।
अलौकिकी-मूर्ति महत्व से भरी।
विचित्र ऊधो उर की दशा हुई॥

अतीव थी कोमल-कान्ति-नेत्र की।
परन्तु थी शान्ति विषाद-अंकिता।
विचित्र-मुद्रा मुख पद्म की रही।
प्रफुल्लता-आकुलता-समन्विता॥

स-प्रीति वे आदर के लिये उठीं।
विलोक आया व्रज-देव-बन्धु को।
पुनः उन्होंने निज-शान्त कुंज में।
उन्हें बिठाया अति भक्ति-भाव से॥

अतीव-सम्मान समेत आदि में।
व्रजेश्वरी की कुशलात पूछ के।
पुनः सुधी-ऊधव ने स-नम्रता।
कहा संदेसा यह श्याम मूर्ति का॥

मन्दाक्रान्ता छन्द ।

प्राणाधारे परम-सरले प्रेम की मूर्त्ति-राधे ।
निर्माता ने पृथक् तुम से यों किया क्यों मुझे है ।
प्यारी आशा-मिलन जिससे नित्य है दूर होती ।
कैसे ऐसे कठिन-पथ का पान्थ मैं हो रहा हूँ ॥

उत्कण्ठा के विवश नभ को भूमि को पादपों को ।
तारात्रों को मनुज-मुख को प्रायशः देखता हूँ ।
प्यारी ! ऐसी न ध्वनि मुझको है कहीं भी सुनाती ।
जो चिन्ता से चलित-चित की शान्ति का हेतु होवे ॥

जाना जाता मरम विधि के बंधनों का नहीं है ।
तो भी होगा उचित चित्त में यों प्रिये सोच लेना ।
होती जाती विफल यदि है सर्व-संयोग-आशा ।
तो होवेगा निहित इसमें श्रेय का बीज कोई ॥

हैं प्यारी औ मधुर सुख औ भोग की लालसायें ।
कान्ते, लिप्सा-जगत-हित की मुक्ति की उत्तमा है ॥
इच्छा आत्मा-परम-हित की और भी है मनोज्ञा ।
वांछा होती विशद उस से आत्म-उत्सर्ग की है ॥

जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते आत्म-त्यागी उसे हैं।
जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि तल में आत्म-त्यागी वही है॥

जो पृथ्वी के विपुल-सुख की माधुरी है विपाशा।
प्राणी-सेवा-जनित-सुख की प्राप्ति तो जन्हुजा है।
जो आद्या है नखत-द्युतिसी व्याप-जाती उरों में।
तो होती है लसित उसमें कौमुदी सी द्वितीया॥

भोगों में भी यदपि कितनी रंजिनी-शक्तियां हैं।
वे तो भी हैं जगत-हित से मुग्ध-कारी न होते।
देखे जाते कलुष उन में क्रान्तिकारी बड़े हैं।
पाई जाती लसित इसमें शान्ति-लोकोत्तरा है॥

है आत्मा का न सुख किस को विश्व के मध्य प्यारा।
सारे-प्राणी स-रुचि इसकी माधुरी में बँधे हैं।
जो होता है न वश इस के आत्म-उत्सर्ग-द्वार
ऐ-कान्ते है सफल अवनी-मध्य आना उसी क

जो है भावी परम-प्रबला दैव-इच्छा-प्रधाना।
तो होवेगा उचित न, दुखी वांछितों हेतु आना।
श्रेय:कारी-परम, दयिते सात्विकी-कार्य्य होगा।
जो हो स्वार्थोपरत भव में सर्व-भूतोपकारी॥

वंशस्थ छन्द।

अतीव हो अन्य-मना विषादिता
विमोचते वारि दृगारविन्द से।
समस्त-सन्देशसुना ब्रजेश का।
ब्रजेश्वरी ने उर को करों गहे॥

पुनः उन्होंने अति-शान्त-भाव से।
कभी दुखों साथ कभी स-धीरता।
कहीं स्व-बातें बल-वीर-बंधु से।
दिखा कलत्रोचित-चित्त-उच्चता॥

मन्दाक्रान्ता छन्द।

मैं हूँ ऊधो पुलकित हुई आप को आज पाके।
सन्देशों को श्रवण कर के और भी मोदिता हूँ।
मंदी-भूता, उरतिमिर की ध्वंसिनी ज्ञान-आभा।
उद्दीप्ता हो उचित-गति से उज्ज्वला हो रही है॥

मेरे प्यारे, पुरुष, पुहुमी-रत्न औ शान्त-धी हैं।
सन्देशों में तदपि उनकी, वेदना, व्यंजिता है।
मैं नारी हूँ तरल-उर हूँ प्यार से वंचिता हूँ।
जो होती हूँ विकल-विमना-व्यस्त वैचित्र्य क्या है॥

पूरा-पूरा-परम-प्रिय का मर्म्म मैं बूझती हूँ।
है जो वांछा विशद उर में जानती भी उसे हूँ।
यत्नों-द्वारा प्रति-दिन अतः संयता मैं महा हूँ।
तो भी देतीं विरह-जनिता-वासनायें व्यथा हैं॥

जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कण्ठा-विवश चित में आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे निबल-तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं स-मुद उड़ती श्याम के पास जाती॥

निर्लिप्ता औ यदपि अति ही-संयता नित्य मैं हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते।
वैसी वांछा-जगत-हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है॥

देखी जाती कुंवर-वर के रूप में है महत्ता।
पाई जाती मुरलि स्वर में व्यापिनी-दिव्यता है॥
प्यारे-प्यारे-विविध-गुण की सात्विकी-मूर्त्ति वे हैं।
कैसे व्यापी प्रणय उन का अन्तरों में न होगा॥

जो आसक्ता व्रज-अवनि में बालिका हैं अनेकों।
वे सारीही प्रणय-रँग से श्याम के रंजिता हैं।
मैं मानूंगी अधिक उनमें हैं महा-मोह-मग्ना।
तो भी प्रायः प्रणय-पथ की पंथिनीही सभी हैं॥

मेरी भी है कुछ गति यही श्याम को भूल दूँ क्यों।
काढ़ूँ कैसे हृदय-तल से श्यामली मूर्त्ति न्यारी।
जीते जी जो न हम सकती भूल हैं मंजु तानें।
तो क्यों होंगी रहित प्रिय के लाभ की लालसायें॥

ए-आंखें हैं जिधर-फिरती चाहती श्याम को हैं।
कानों को भी मुरलि-रव की आज लौं लौ लगी है॥
कोई मेरे हृदय-तल को पैठ के जो विलोके।
तो पावेगा लसित उसमें कान्ति-प्यारी उन्हीं की॥

कालिन्दी एक प्रिय-तम के गात की श्यामता ही।
मेरे प्यासे-दृगयुगल के सामने है न लाती॥
प्यारी-लीला-सकल अपने कूल की चित्त में भी॥
नाना-भावों-सहित नित है मंजुता से लसाती॥

सायं-प्रातः सरस स्वर से कूजते हैं पखेरू।
प्यारी-प्यारी मधुर-ध्वनियां मत्त हो, हैं सुनाते।
मैं पाती हूँ मधुर-ध्वनि में कूजने में खगों के।
मीठी-तानें परम-प्रिय की मोहिनी-वंशिका की॥

मेरी बातें श्रवण करके आप उद्विग्न होंगे।
जानेंगे मैं विवश बन के हूँ महा-मोह मग्ना।
सच्ची यों है न निज-सुख के हेतु मैं मोहिता हूँ।
संरक्षा में प्रणय-पथ के भावतः हूँ सयत्ना॥

प्यारे आवें सु-बयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंढे होवें नयन-दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ।
ए, भी हैं भाव मम उर के और ए-भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें॥

पिचानबे

कंजों का या उदित-शशि का देख सौन्दर्य आँखों।
कानों-द्वारा श्रवण कर के गान मीठा खगों का।
मैं होती थी व्यथित, अब हूँ शान्ति सानन्द पाती।
प्यारे के पाँव, मुख, मुरली नाद, जैसा उन्हें पा॥

यों ही जो है अवनि नभ में दिव्य, प्यारा, उन्हें मैं।
जो छूती हूँ श्रवण करती देखती सूँघती हूँ।
तो होती हूँ मुदित उन में भावतः श्याम की पा।
न्यारी शोभा, सुगुण-गरिमा, साम्यता अंगजाता॥

हो जाने से हृदय-तल का भाव ऐसा निराला।
मैं ने न्यारे-परम गरिमा-वान दो लाभ पाये।
मेरे जी में अनुपम-महा विश्व का प्रेम जागा।
मैं ने देखा परम-प्रभु को स्वीय-प्राणेश ही में॥

पाई जाती विविध जितनी वस्तुयें हैं सबों में।
जो प्यारे को अमित-रँग और रूप में देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा।

जो आता है न मन चित में जो परे बुद्धि के है।
जो भावों का विषय नहीं है नित्य अव्यक्त जो है।
है इन्द्री की न गति जिसमें औ गुणातीत जो है।
सो क्या है मैं अबुध-अबला जान पाऊँ उसे क्यों॥

शास्त्रों में है कथित प्रभु के शीश औ लोचनों की।
संख्यायें हैं अमित पग औ हस्त भी हैं अनेकों।
सो हो के भी रहित मुख से नेत्र नासादिकों से।
छूता खाता श्रवण करता देखता सूँघता है॥

ज्ञाताओं ने विशद इसका मर्म यों है बताया।
सारे-प्राणी अखिल-जग के मूर्तियाँ हैं उसी की।
होतीं आँखें-प्रभृति उनकी भूरि-संख्यावती हैं।
सो विश्वात्मा अमित-नयनों आदि वाला अतः है॥

मैंने बातें कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात की हैं।
वे बातें हैं प्रगट करतीं है प्रभू विश्व-रूपी।
पाती हूँ विश्व प्रिय-तम में विश्व में प्राण प्यारा।
ऐसे मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका॥

शास्त्रोंमें है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुज तन की सर्व संसिद्धियों से।
मैं होती हूँ सुखित यह जो तत्वतः देखती हूँ।
प्यारे की औ परम-प्रभु की भक्तियाँ हैं अभिन्ना॥

द्रुतविलम्बित छन्द

जगत-जीवन-प्राण-स्वरूप का।
निज-पिता जननी गुरु-आदि का।
स्व-प्रिय का प्रिय-साधन भक्ति है।
वह अ-काम, महा-कमनीय है॥
श्रवण कीर्त्तन वन्दन दासता।
स्मरण आत्म-निवेदन अर्चना।
सहित सख्य तथा पद-सेवना।
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है॥

वंशस्थ छन्द

बना किसी की यक-मूर्त्ति-कल्पिता।
करे उसी की पद-सेवनादि जो।
न तुल्य होगा वह बुद्धि-दृष्टि से।
स्वयं उसी की पद-अर्चनादि के॥

मन्दाक्रान्ता छन्द ।

ञो परम-प्रभु है रूप तो हैं उसी के।
सरि गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना।
उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
का परम-प्रभु की भक्ति-सर्वोत्तमा है॥

द्रुतविलम्बित छन्द ।

सिन्धु पड़े नर-वृन्द के।
दुख-निवारण औ हित के लिये।
। अपने तन प्राण को।
प्रथित-आत्म-निवेदन-भक्ति ।

की प्रिय-साधन ईश का।
कुँवर का प्रिय-साधन है यही।
लेए प्रिय की परमेश की।
परम-पावन-भक्ति अ-भिन्न है॥

हुआ मणि-कांचन-योग है।
मिलन है यह स्वर्ण-सुगन्ध का।
-योग मिले बहु-पुण्य से।
अवनि में अति-भाग्य-वती हुई॥

मन्दाक्रान्ता छन्द ।

जो इच्छा है परम-प्रिय की जो अनुज्ञा हुई है।
मैं प्राणों के अछुत उस को भूल कैसे सकूँगी।
यों भी मेरे परम-व्रत के तुल्य बातें यही थीं।
हो जाऊँगी अधिक अब मैं दत्त-चित्ता इन्हीं में ॥

मैं मानूँगी अधिक मुझ में मोह-मात्रा अभी है।
तो भी होती प्रणय रँग में नित्य आरंजिता हूँ।
ऐसी हूँगी निरत अब मैं स्वीय-कार्य्यावली में।
जी में मात्रा-प्रणय जिस से पूर्णतः व्याप्त होवे ॥

मैंने पाँवों-निकट प्रिय के बैठे, है भक्ति सीखी।
यत्नों-द्वारा विविध उसका मर्म्म है बूझ पाया।
चेष्टा ऐसी सतत अपनी बुद्धि द्वारा-करूँगी।
भूलूँ चूकूँ न इस व्रत की पूत-कार्य्यावली में ॥

जाके मेरी-विनय इतनी नम्रता से सुनावें।
मेरे प्यारे कुँवर-वर को आप सौजन्य-द्वारा।
मैं ऐसी हूँ-न निज-दुख से कष्टिता शोक-मग्ना।
हा ! जैसी हूँ व्यथित व्रज के वासियों के दुखों से ॥

गोपी गोपों व्यथित-व्रज की बालिका बालकों को।
आके पुष्पानुपम मुखड़ा प्यार डूबा दिखावें।
बाधा कोई न यदि प्रिय के चारु-कर्त्तव्य में हो।
तो वे आके जनक जननी की दशा देख जावें॥

मैं मानूँगी अधिक बढ़ता लोभ है लाभ ही से।
तौ भी होगा सु-फल कितनी-भ्रान्तियाँ दूर होंगी।
जो उत्कण्ठा-जनित दुखड़े दाहते हैं उरों को।
सद्वाक्यों से प्रबल उनका वेग भी शान्त होगा॥

सत्कर्मी हैं परम-शुचि हैं आप ऊधो सुधी हैं।
अच्छा होगा सुनय यह जो आप चाहें प्रभू से।
आज्ञा भूलूँ न प्रिय-तम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे॥

द्रुतविलंबित छन्द।

चुप हुईं इतना कह मुग्ध हो।
व्रज-कुमारि-विभूषण-राधिका।
चरण की रज ले हरिबंधु भी।
परम-शान्ति समेत विदा हुए॥

मन्दाक्रांता छन्द

ऊधो लौटे निज नगर में मास पूरे छै बीते।
आये थे वे व्रज अवनि में दो-दिनों के लिये ही।
आया कोई न फिर व्रज में औ न गोपाल आये।
धीरे धीरे निशि-दिन लगे बीतने खिन्नता से॥

बीते थोड़ा-दिवस व्रज में एक-सम्वाद आया।
कंसारी को दलन करने की महा-कामना से।
नाना-ग्रामों विविध पुर को फूँकता भू कँपाता।
ले के सेना-विपुल मथुरा है जरा-संध आता॥

ए बातें ज्यों व्रज अवनि में हो गईं व्यापमाना।
सारे-प्राणी अति व्यथित हो शोक अंभोधि डूबे।
क्या होवेगा परम-प्रिय की आपदा क्यों टलेगी।
होने ऐसी प्रति-पल लगीं तर्कनायें उरों में॥

जो होती थी गगन-तल में उत्थिता धूलि यों ही।
तो आशंका विवश बनते लोग थे बावले से।
जो टापें हो ध्वनित उठतीं घोटकों की कहीं भी।
तो होता था हृदय-शतधा गोप-गोपांगना का॥

धीरे धीरे दुखहि दिवस ए व्यग्रता-धाम बीते।
लोगों द्वारा यह शुभ-समाचार आया गृहों में।
सारी-सेना निहत अरि की हो गई श्याम-हाथों।
प्राणों को ले मगध-अवनी-नाथ उद्विग्न-भागा॥

बारी बारी व्रज अवनि को कम्पमाना बना के।
बातें धावा-मगध-पति की सत्तरा-बार फैलीं।
आया सम्वाद व्रज महि में वार-अट्ठारहीं जो।
टूटी आशा-सकल उस से नंद-गोपादिकों की॥

दोनों हाथों पकड़ अबकी बार ऊबा-कलेजा।
रोते धोते यह दुःख-मयी बात जानी सबों ने।
उत्पातों से मगध-पति के श्याम ने व्यग्र हो के।
त्यागा प्यारा-नगर मथुरा जा बसे द्वारिका में॥

जैसे बीते शरद-ऋतु है घेर लेती निराशा।
स्वाती बूँदों-रत अति-तृपा से तचे चातकों को।
वैसे ही श्री-कुँवर-वर के जा बसे द्वारिका में।
गोपी-गोपों-हृदय-तल में घोर छाई निराशा॥

प्राणी आशा-कमल-पग को है नहीं त्याग-पाता।
सो वीची लौं लसित रहती जीवनांभोधि में है।
छाई व्यापी तिमिर उर-भूमी निराशा जहाँ है।
हो जाती है उदित मलिना-ज्योति-आशा वहाँ भी॥

आशा त्यागी न ब्रज-महि ने हो निराशा-मयी भी।
लाखों-आंखें पथ-कुँवर का आज भी देखती थीं।
मात्रायें थीं समधिक हुई शोक-दुःखादिकों की।
लोहू आता विपुल-दृग में वारि के स्थान में था॥

कोई प्राणी स-दुख कब लों खिन्न होता रहेगा।
ढालेगा नेत्रजल कब लौं थाम टूटा-कलेजा।
जी को मारे नखत गिन के ऊब के दग्ध होके।
कोई होगा विरत कबलौं विश्व-व्यापी-सुखों से॥

न्यारी-आभा-निलय-किरणें सूर्य्य की औ शशी की।
तारात्रों से खचित नभ की नीलिमा मेघ-माला।
रूखों की औ ललित-लतिका-वेलियों की छटायें।
कान्ता-क्रीड़ा सरित सर औ निर्भरों के जलों की॥

मीठी-तानें मधुर-लहरें गान-वाद्यादिकों की।
प्यारी-बोली विहग कुल की बालकों की कलायें।
सारी-शोभा रुचिर-ऋतु की पर्व की उत्सवों की।
वैचित्र्यों से वलित-धरती विश्व की सम्पदायें॥

नाना-प्राणी विविध-दुख से दग्ध का दृष्टि आना।
जो आँखों में कुटिल-जग का चित्र-सा खींचते हैं।
आख्यानों के सहित सुखदा-सान्त्वना सज्जनों की।
संतानों की सहज ममता पेट धन्धे-सहस्रों॥

हैं प्राणी के हृदय तल को फेरते मोह लेते।
धीरे धीरे दुसह-दुख का वेग भी हैं घटाते।
नाना-भावों सहित अपनी व्यापिनी मुग्धता से।
वे हैं प्रायः व्यथित-उर की वेदनायें भगाते॥

गोपी-गोपों जनक जननी बालिका-बालकों का।
चित्तोन्मादी-प्रबल-दुख का वेग भी काल पाके।
नाना भावों सहित बदला हो गया न्यून प्रायः।
तो भी व्यापी हृदय-तल में श्यामली मूर्ति ही थी॥

वे गाते तो मधुर-स्वर से श्याम की कीर्ति गाते।
प्राय: चर्चा-समय चलती बात थी श्याम ही की।
मानी जातीं सुतिथि वह थीं पर्व और उत्सवों की।
थीं लीलायें-ललित जिन में राधिका-कान्त ने की॥

खोदेने में विरह जनिता-वेदना-किल्विषों के।
ला देने में व्यथित-चित में शान्ति-भावानुकूला।
यत्नों-द्वारा जनक जननी श्याम के बोधने में।
की थी चेष्टा-अतुल परमा-प्रेमिका राधिका ने॥

चिन्ता-डूबी विरह-विधुरा भूरि-भावों निमग्ना।
जो थीं कौमार व्रत-निरता बालिकायें अनेकों।
वे होती थीं बहु-उपकृता नित्य श्री-राधिका से।
घंटों आके कमल-पग के पास वे बैठतीं थीं॥

जो छा जाती गगन-तल के अंक में मेघमाला।
जो केकी हो नटित करता केकिनी साथ क्रीड़ा।
उत्कण्ठा के विवश रटता पी कहाँ जो पपीहा।
तो उन्मत्ता परम बन ये बालिकायें अनेकों॥

ये बातें थीं स-जल-घन को खिन्न हो हो सुनातीं।
क्यों तू होके परम-प्रिय सा वेदना है बढ़ाता।
तेरी संज्ञा सलिल-धर है और पर्जन्य भी है।
ठंढा मेरे हृदय-तल को क्यों नहीं तू बनाता॥

ऐसी ठौरों पहुँच बहुधा राधिका कौशलों से।
ए बातें थीं पुलक-कहतीं उन्मना-बालिका से।
देखो प्यारी-भगिनि भव को प्यार की दृष्टियों से।
जो थोड़ी भी हृदय-तल में शान्ति की कामना है॥

ला देता है जलद दृग में श्याम की मंजु-शोभा।
पद्माभा से मुकुट-सुषमा है कलापी दिखाता।
पी का सच्चा-प्रणय उर में आँकता है पपीहा।
ए बातें हैं सुखद इन में भाव क्या है व्यथा का॥

होती राका-विमल-विधु से बालिका जो विपन्ना।
तो श्री-राधा मधुर-स्वर से यों उसे थीं सुनातीं।
तेरा होना विकल दयिते बुद्धि-मत्ता नहीं है।
क्या प्यारे की वदन-छबि तू इन्दु में है न पाती॥

एक

मालिनी छन्द ।

जब कुसुमित होतीं वेलियाँ औ लतायें ।
जब ऋतु-पति आता आम की मंजरी ले ।
जब रस-मय होती मेदिनी हो मनोज्ञा ।
जब मनसिज लाता मत्तता मानसों में ।।

जब मलय-प्रसूता-वायु आती सु-सिक्ता ।
जब तरु कलिका औ कोंपलोंवान होता ।
जब मधुकर-माला गूँजती कुंज में थी ।
जब पुलकित हो हो कूकती कोकिलायें ।।

तब व्रज बनता था मूर्ति उद्विग्नता-की ।
प्रति-जन उर में थी वेदनावृद्धि-पाती ।
गृह-पथ-वन-कुँजों मध्य थीं दृष्टि आती ।
बहु-विकल उनींदी-ऊवती-बालिकायें ।।

इन विविध-व्यथाओं मध्य डूबे दिनों में ।
अति सरल-स्वभावा-सुन्दरी-एक-बाला ।
निशि-दिन फिरती थी प्यार के रंग डूबी ।
गृह-पथ-बहु-बागों कुंज-पुंजों-वनों में ।।

वह सहृदयता से ले किसी मूर्छिता को।
निज अति-उपयोगी-अंक में यत्न-द्वारा।
मुख पर उसके थी डालती वारिछींटे।
वर-व्यजन डुलाती थी कभी तन्मयी हो॥

कुवलय-दल बीछे-पुष्प औ पल्लवों को।
निज-कलित-करों से थी धरा में बिछाती।
उस पर यक-तप्ता-बालिका को सुला के।
वह निज कर से थी लेप-सीरे लगाती॥

यदि अति-अकुलाती-उन्मना बालिका को।
वह कह मृदु-बातें बोधती कुंज में जा।
वन वन बिलखाती तो किसी बावली का।
वह संग रह छाया-तुल्य संताप खोती॥

यक-थल अवनी में लोटती वंचिता को।
निज हृदय लगा के धूल जो पोंछती थी।
थल अपर उनींदी मोह-मग्ना किसी को।
वह सिर सहला तो गोद में थी सुलाती॥

सुन कर उस में की आह-रोमांच-कारी।
वह प्रति-गृह में थी शीघ्रता-साथ जाती।
फिर मृदु-वचनों से मोहनी-उक्तियों से।
वह दुःख व्यथिता का वेग उन्मूलती थी ॥

गिन-गिन नभ-तारे ऊब आँसू बहाके।
यदि निज-निशि कोई बाल होती बिताती।
वह ढिंग उसके भी रात्रि में ही सिधाती।
निज अनुपम-राधा-नाम की सार्थता से ॥ (

मन्दाक्रान्ता छन्द।

राधा जातीं प्रति-दिवस थीं पास नन्दांगना के।
नाना-बातें कथन कर के थीं उन्हें बोध देती।
जो वे होतीं परम-व्यथिता मूर्छिता या विपन्ना।
तो वे आठों-पहर उनकी सेवना में बितातीं ॥

घंटों लेके हरिजननि को गोद में बैठती थीं।
वे थीं नाना-जतन करतीं पा उन्हें शोक-मग्ना।
धीरे धीरे चरण-सहला औ मिटा चित्त पीड़ा।
हाथों से थीं युगल-दृग के वारि को पोंछ देतीं ॥

हो उद्विग्ना-परम जब यों पूछती थीं यशोदा।
क्या आवेंगे न अब ब्रज में जीवनाधार-मेरे।
तो वे धीरे मधुर-स्वर से हो विनीता बतातीं।
हाँ आवेंगे, व्यथित-ब्रज को श्याम कैसे तजेंगे॥

आता ऐसा कथन करते वारि राधा-दृगों में।
बूँदों बूँदों टपक पड़ता गाल पै जो कभी था।
जो आँखों से सदुःख उसको देख पातीं यशोदा।
तो धीरे यों कथन करतीं खिन्न हो तू न बेटी॥

होके राधा विनत कहतीं मैं नहीं रो रही हूँ।
आता मेरे युगलदृग में नीर-आनन्द का है।
जो होता है पुलक, कर के आप की चारु-सेवा।
हो जाता है प्रगटित वही वारि-द्वारा दृगों में॥

वे थीं प्रायः ब्रज-नृपति के पास उत्कण्ठ-जातीं।
नाना-सेवा स्व-कर करतीं क्लांतियाँ थीं मिटातीं।
बातों ही में विभव-जग की तुच्छता थीं दिखातीं।
जो वे होते विकल, पढ़ के शास्त्र-नाना सुनातीं॥

होती मेरे मन यदि कहीं गोप की पंक्ति बैठी।
किम्वा होता विकल उन को गोप कोई दिखाता।
तो कार्य्यों में विविध, उन को यत्नतः वे लगातीं।
औ ए-बातें कथन करतीं भूरि-गंभीरता से॥

जी से जो आप-सब करते प्यार प्राणेश को हैं।
तो पा भू में पुरुप-तन को खिन्न होके न बैठें।
उद्योगी हो परम रुचि से कीजिये कार्य्य ऐसे।
जो प्यारे हैं परम-प्रिय के विश्व के प्रेमिकों के॥

जो वे होता मलिन लखतीं गोप के बालकों को।
देतीं पुष्पों रचित उनको मुग्ध-कारी-खिलौने।
शिक्षा दे दे विविध उन से कृष्ण-लीला करातीं।
घण्टों बैठी परम-रुचि से देखतीं तद्गता हो॥

पाई जातीं दुखित जितनी अन्य गोपांगना थीं।
राधा-द्वारा-सुखित वह भी थीं यथा-रीति होतीं।
गा के लीला-स्व-प्रिय-तम की वेणु वीणा वजाके।
बातें-प्यारी-विविध कह के वे उन्हें बोध देतीं॥

संलग्ना हो विविध कितने सान्त्वना-कार्य में भी।
वे सेवा थीं सतत करतीं वृद्ध-रोगी जनों की।
दीनों हीनों निबल विधवा आदि को मानती थीं।
पूजी जातीं व्रज अवनि में देवि तुल्या अतः थीं॥

खो देतीं थीं कलह-जनिता आधि के दुर्गुणों को।
धो देती थीं मलिन-मन की व्यापिनी कालिमायें।
बो देती थीं हृदय-तल में बीज भावज्ञता का।
वे थीं क्लेशों-दलित गृह में शान्ति-धारा बहातीं॥

आटा चींटी विहग-गण थे वारि औ अन्न पाते।
देखी जाती सदय उन की दृष्टि कीटादि में भी।
पत्तों को भी न तरु-वर के वे वृथा तोड़तीं थीं।
जी से वे थीं निरत रहतीं भूत-सम्वर्द्धना में॥

वे छाया थीं सु-जन शिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम-निधि थीं औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं भगिनि जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं व्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं॥

जैसा व्यापी दुसह-दुख था गोप गोपांगना का।
वैसीही थीं सदय हृदया स्नेह की मूर्त्ति राधा।

जैसी मोहों-वलित व्रज में तामसी-रात आई।
वैसी ही वे लसित उस में कौमुदी के समा थीं॥

जो थीं कौमार-व्रतनिरता बालिकायें अनेकों।
वे भी पा के समय व्रज में शान्ति विस्तारती थीं।
श्री राधा के हृदय-बल से दिव्य शिक्षा गुणों से।
वे भी छाया-सदृश उन की वस्तुतः हो गई थीं॥

तो भी आई न वह घटिका और न वे वार आये।
वैसी सच्ची-सुखद व्रज में वायु भी आ न डोली।
वैसे छाये न घन रस की सोत सी जो बहाते।
वैसे उन्माद-कर-स्वर से कोकिला भी न बोली॥

जीते भूले न व्रज-महि के नित्य उत्कण्ठ प्राणी।
जी से प्यारे जलद-तन को, केलि-क्रीड़ादिकों को।
पीछे छाया-विरह दुख की वंशजों-मध्य व्यापी।
सच्ची यों है व्रज-अवनि में आज भी अंकिता है।

सच्चे-स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे।
राधा जैसी सदय-हृदया विश्व के प्रेम-डूबी।
हे विश्वात्मा भरत-भुव के अंक में और आवें।
ऐसी व्यापी विरह घटना किन्तु कोई नहोवे॥

'प्रिय-प्रवास'

श्री मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त का संक्षिप्त परिचय

गुप्तजी का जन्म चिरगाँव (ज़िला झाँसी) में श्रावण शुक्ला तृतीया, संवत् १९४३ को हुआ। इनके पिताजी का नाम सेठ रामचरण कनकने था। चिरगाँव में इनका घराना गहोई वैश्यों में एक प्रतिष्ठित घराना है। गुप्तजी श्री सम्प्रदाय के अनुयायी, रामोपासक श्रीवैष्णव हैं। कविता करने के संस्कार इनको पैतृक सम्पत्ति रूप में प्राप्त हुए हैं, क्योंकि इनके पिता स्वयं 'कनकलता' उपनाम से अच्छी कविता करते थे। कहा जाता है कि बालक गुप्त ने भी एक दिन उनकी कविता लिखने की कापी में स्वयं रच कर एक छप्पय लिख दिया। इनके पिताजी ने जब उसे देखा था तो गद्गद होकर भविष्य में एक अच्छे कवि होने का आशीर्वाद दिया। कदाचित् पिता के हृदय से निकला हुआ आशीर्वाद ही आज फल फूल रहा है।

हिन्दी के अभ्यास के बाद गुप्तजी को अँग्रेजी पढ़ने के लिए झाँसी भेजा गया परन्तु गुप्तजी को तो राष्ट्र-कवि होना था, वे भला कब इन बन्धनों में रह सकते थे। झाँसी से लौटकर घर पर ही इन्होंने अध्ययन किया। प्रारम्भ में 'वैश्योपकारक' आदि अपने जातीय पत्रों में ही कविता छपाते रहे। पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी उन दिनों 'सरस्वती' के

सम्पादक थे। उनका आश्रय गुप्तजी के लिए कल्पतरु समान हुआ। आप ही कदाचित् आधुनिक हिन्दी-काल के पुराने खेवे के कवियों में एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने खड़ी बोली को जब से अपनाया फिर किसी दूसरी भाषा का आश्रय न लिया। आप बड़े सहृदय, सरल एवं सज्जन हैं। जो एक बार भी आपके सम्पर्क में आया है, आपके सौजन्य की छाप से अछूता नहीं बचा। प्राचीनता के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी आप नवीनता के प्रति विशेष सद्भाव रखते हैं। आपके विचार बड़े सुलझे हुए हैं और आपकी रचनाओं में आपके व्यक्तित्व की अमिट छाप रहती है।

तपस्विनी ऊर्मिला

दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक-लीला,
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला;
त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही,
राजा-योगी जय जनक वे पुण्यदेही, विदेही।

विफल जीवन व्यर्थ बहा, बहा,
सरस दो पद भी न हुए हहा !
कठिन है कविते' तव-भूमि ही।
पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा !

करुणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति है जो, उसको 'भव-भूति' क्यों कहे कोई ?'

अवध को अपनाकर त्याग से,
वन तपोवन-सा प्रभु ने किया।
भरत ने उनके अनुराग से,
भवन में वन का व्रत ले लिया!

स्वामि-सहित सीता ने
नन्दन माना सघन-गहन कानन भी,
वन उर्मिला वधू ने
किया उन्हीं के हितार्थ निज उपवन भी!

अपने अतुलित कुल में
प्रकट हुआ था कलंक जो काला,
वह उस कुल-बाला ने
अश्रु-सलिल से समस्त धो डाला।

भूल अवधि-सुध प्रिय से
कहती जगती हुई कभी—'आओ!'
किन्तु कभी सोती तो
उठती वह चौंक बोलकर—'जाओ!'

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप !
आँखों में प्रिय-मूर्त्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग !

आठ पहर चौंसठ घड़ी स्वामी का ही ध्यान !
छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्मज्ञान !!

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे,
छींटे वही उड़े थे, बड़े-बड़े अश्रु वे कब थे ?

उसे बहुत थी विरह के एक दण्ड की चोट,
धन्य सखी देती रही निज यत्नों की ओट।

मिलाप था दूर अभी धनी का,
विलाप ही था वश का बनी का।

अपूर्व अलाप वही हमारा,
यथा विपंची—दिर दार दारा!

"सींचें ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़के, फैलें लताएँ हरी।
क्रीड़ा-कानन-शैल यन्त्र-जल से संसिक्त होता रहे।
मेरे जीवन का, चलो सखि, वहीं सोता भिगोता बहे।

क्या क्या होगा साथ, मैं क्या बताऊँ?
है ही क्या, हा! आज जो मैं जताऊँ?
तो भी तूली, पुस्तिका और वीणा,
चौथी मैं हूँ, पाँचवीं तू प्रवीणा।

हुआ एक दुःस्वप्न-सा सखि, कैसा उत्पात,
जगने पर भी वह बना वैसा ही दिन रात!
खान-पान तो ठीक है, पर तदनन्तर हाय!
आवश्यक विश्राम जो उसका कौन उपाय?

अरी व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई,
हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई?

वही पाक है, जो विना भूख भावे,
वता किन्तु तू ही, उसे कौन खावे?

वनाती रसोई, सभी को खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किन्तु मेरे लिये एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोना-सलोना?

वन की भेंट मिली है,
एक नई वह जड़ी मुझे जीजी से,
खाने पर सखि, जिसके
गुड़ गोवर-सा लगे स्वयं ही जी से!

रस हैं वहुत, परन्तु सखि, विष है विषम प्रयोग,
विना प्रयोक्ता के हुए, यहाँ भोग भी रोग!

लाई है क्षीर क्यों तू? हठ मत कर यों,
मैं पियूँगी न आली,
मैं हूँ क्या हाय! कोई शिशु सफलहठी,
रंक भी राज्यशाली?

माना तू ने मुझे है तरुण विरहिणी,
वीर के साथ ब्याहा,
आँखों का नीर ही क्या कम फिर मुझको ?
चाहिए और क्या हा !
चाहे फटा फटा हो. मेरा अम्बर अशून्य है आली,
आकर किसी अनिल ने भला यहाँ धूलि तो डाली !
धूलि-धूसर हैं तो क्या, यों तो मृन्मात्र गात्र भी;
वस्त्र ये वल्कलों से तो हैं सुरम्य. सुपात्र भी !
फटते हैं, मैले होते हैं, सभी वस्त्र व्यवहार से;
किन्तु पहनते हैं क्या उनको हम सब इसी विचार से ?
पिऊँ ला, खाऊँ ला. सखि, पहन लूँ ला. सब करूँ;
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो, मानूँ सो, किस विध बता, धीरज धरूँ ?
अरी, कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ।
प्रोपितपतिकाएँ हों
जितनी भी सखि, उन्हें निमन्त्रण दे आ,
समदुःखिनी मिलें तो
दुःख बँटें, जा, प्रणयपुरस्सर ले आ।

सुख दे सकते हैं तो दुःखी जन ही मुझे, यदि भेटूँ,
कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव मैं भी मेटूँ ?

इतनी बड़ी पुरी में, क्या ऐसी दुःखिनी नहीं कोई ?
जिसकी सखी बनूँ मैं, जो मुझ-सी हो हँसी-रोई ?

लिख कर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा !
व्योम-सिन्धु सखि, देख, तारक-बुद्‌बुद दे रहा !
बता अरी, अब क्या करूँ, रुपी रात से रार,
भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ झखमार !

क्या क्षण क्षण में चौंक रही मैं
सुनती तुझसे आज यही मैं।
तो सखि, क्या जीवन न जनाऊँ ?
इस क्षणदा को विफल बनाऊँ ?

अरी, सुरभि, जा, लौट जा, अपने अंग सहेज,
तू है फूलों में पली, यह काँटों की सेज !

यथार्थ था सो सपना हुआ है,
अलीक था जो, अपना हुआ है।

रही यहाँ केवल है कहानी,
सुना वही एक नई-पुरानी।

आओ, हो, आओ तुम्हीं, प्रिय के स्वप्न विराट,
अर्घ्य लिये आँखें खड़ी हेर रही हैं बाट।

हाय! न आया स्वप्न भी, और गई यह रात,
सखि, उडुगण भी उड़ चले, अब क्या गिनूँ प्रभात?

चंचल भी किरणों का
चरित्र क्या ही पवित्र है भोला,
देकर सखि उन्होंने
उठा लिया लाल लाल यह गोला।

सखि, नीलनभस्सर में उतरा
यह हंस अहा! तरता तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता चरता;

अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता धरता,

गड़ जायँ न कण्टक भूतल के,
कर डाल रहा डरता डरता !

भींगी या रज में सनी अलिनी की वह पाँख ?
आलि, खुली किंवा लगी नलिनी की वह आँख ?
खो खो कर कुछ काटते, सो सो कर कुछ काल,
रो रो कर ही हम मरे, खो खो कर स्वर-ताल !

ओहो ! मरा वह वराक वसन्त कैसा ?
ऊँचा गला रुँध गया अब अन्त जैसा।
देखो, बढ़ा ज्वर, जरा-जड़ता जगी है,
लो, ऊर्ध्व साँस उसकी चलने लगी है !

तपोयोगि, आओ तुम्हीं, सब खेतों के सार,
कूड़ा-कर्कट हो जहाँ, करो जला कर छार।
आया अपने द्वार तप, तू दे रही किवाड़,
सखि, क्या मैं बैठूँ विमुख ले उशीर की आड़ ?

ठेल मुझे न अकेली अन्ध-अवनि-गर्भ-गेह में आलि
आज कहाँ है उसमें हिमांशु-मुख की अपूर्व उजियाली

आकाश-जाल सब ओर तना,
रवि तन्तुवाय है आज बना;
करता है पद-प्रहार वही,
मक्खी-सी भिन्ना रही मही!

लपट से झट रूख जले, जले,
नद-नदी घट सूख चले, चले।
विकल वे मृग-मीन मरे, मरे,
विफल ये दृग दीन भरे, भरे!

या तो पेड़ उखाड़ेगा, या पत्ता न हिलायगा,
बिना धूल उड़ाये हा! ऊष्मानिल न जायगा!

मेरी चिन्ता छोड़ो,
मग्न रहो नाथ, आत्मचिन्तन में,
बैठी हूँ मैं फिर भी,
अपने इस नृप-निकेतन में

नयन नीर पर ही सखी, तू करती थी खेद!
टपक उठा है देख अब, रोम रोम से स्वेद!

ठहर अरी, इस हृदय में लगी विरह की आग,
तालवृन्त से और भी धधक उठेगी जाग!

प्रियतम के गौरव ने
लघुता दी है मुझे, रहें दिन भारी।
सखि, इस कटुता में भी
मधुरस्मृति की मिठास, मैं बलिहारी!

तप, तुझ से परिपक्वता पाकर भले प्रकार,
बनें हमारे फल सकल, प्रिय के ही उपहार।

पड़ी है लम्बी-सी अवधि पथ में, व्यग्र मन है।
गला रूखा मेरा, निकट तुझसे आज घन है।
मुझे भी दे दे तू स्वर तनिक सारंग, अपना,
करूँ तो मैं भी हा! स्वरित प्रिय का नाम जपना।

चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का भान।
हा! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान!
घूम उठे हैं शून्य में उमड़-घुमड़ घन घोर,
ये किसके उच्छ्वास से छाये हैं सब ओर?

घटना हो, चाहे घटा, उठ नीचे से नित्य!
आती हैं ऊपर सभी, छा कर चन्द्रादित्य।

तरसूँ मुझ-सी मैं ही, बरसे-हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी,
सबको सुख होगा तो मेरी भी आवेगी बारी।

बुंदियों को भी आज उन तनु-स्पर्शों का ताप,
उठती हैं वे भाप-सी गिर कर अपने आप।

इन्द्रवधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय?
नन्हीं दूबा का हृदय निकल पड़ा यह हाय!

त्रिविध पवन ही था, आ रहा जो उन्हीं-सा,
यह घन-रव ही था, छा रहा जो उन्हीं-सा,
प्रिय-सदृश हँसा जो, नीप ही था, कहाँ वे?
प्रकृति-सुकृत फैले, भा रहा जो उन्हीं-सा!

सफल है, उन्हीं घनों का घोष,
वंश वंश को देते हैं जो वृद्धि, विभव, सन्तोष।
नभ में आप विचरते हैं जो,
हरा धरा को करते हैं जो,
जल में मोती भरते हैं जो,

अक्षय उनका क्रोप।
सफल है, उन्हीं घनों का घोष।

सखि, आशांकुर मेरे इस मिट्टी में पनप नहीं पाये,
फल-कामना नहीं थी, चढ़ा सकी फूल भी न मनभाये।
तम में तू भी कम नहीं, जी, जुगनू, बड़भाग,
भवन भवन में दीप है, जा, वन वन में जाग।

हा! वह सुहृदयता भी क्रीड़ा में है कठोरता जड़िता,
तड़प तड़प उठती है स्वजनि, घनालिंगिता तड़िता!

गाढ़ तिमिर की बाढ़ में डूब रही सब सृष्टि,
मानों चक्कर में पड़ी चकराती है दृष्टि।

पथ तक जकड़े हैं झाड़ियाँ डाल घेरा,
उपवन वन-सा हा! हो गया आज मेरा।
प्रियतम वनचारी गेह में भी रहेंगे,
कह सखि, मुझसे वे लौट के क्या कहेंगे?

करें परिष्कृत मालिनें आली, यह उद्यान;
करते होंगे गहन में प्रियतम इसका ध्यान।

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये!
फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरसाये,
घूमे वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये!

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाये!
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये!

अपने प्रेम-हिमाश्रु ही दिये दूब ने भेट,
उन्हें बना कर रत्न-कण रवि ने लिया समेट।
प्रिय को था मैंने दिया पद्म-हार उपहार,
बोले—'आभारी हुआ पाकर यह पद-भार!'

अम्बु, अवनि, अम्बर में स्वच्छ शरद की पुनीत क्रीड़ा-सी,
पर सखि, अपने पीछे पड़ी अवधि पित्त-पीड़ा-सी!

हुआ विदीर्ण जहाँ तहाँ श्वेत आवरण जीर्ण,
व्योम शीर्ण कंचुक धरे विषधर-सा विस्तीर्ण!

हा ! मेरे कुँजों का कूजन रोकर, निराश होकर सोया,
यह चन्द्रोदय उसको उढ़ा रहा है धवल वसन-सा धोया।
सखि, मेरी धरती के करुणाँकुर ही वियोग सेता है,
यह ओषधीश उनको स्वकरों से अस्थिसार देता है !

जन प्राचीजननी ने शशिशिशु को जो दिया डिठौना है,
उसको कलंक कहना, यह भी मानों कठोर टौना है !

सजनी, मेरा मत यही, मंजुल मुकुर मयंक,
हमें दीखता है वहाँ अपना राज्य कलंक !

किसने मेरी स्मृति को
बना दिया है निशीथ में मतवाला ?
नीलम के प्याले में
बुद्बुद देकर उफन रही वह हाला !

नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाय !
तो क्या मैं निःश्वास भी न लूँ आज निरुपाय ?

तारक-चिन्हदुकूलिनी पी पी कर मधु मात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र।

सी-सी करती हुई पार्श्व में पाकर जब-तब मुझको,
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको।

कंबल ही संबल है अब तो,
ले आसन ही आज पुनीत,
आया यह हेमन्त दया कर,
देख हमें सन्तप्त-सभीत।

कालागरु की सुरभि उड़ा कर मानों मंगल तारे,
हँसे हसन्ती में खिल खिल कर अनल-कुसुम अँगारे।

आज धुकधुकी में मेरी भी
ऐसा ही यह उद्दीप्त अतीत!
आया यह, हेमन्त दया कर,
देख हमें सन्तप्त सभीत।

पूछी थी सुकाल-दशा मैं ने आज देवर से—
कैसी हुई उपज कपास, ईख, धान
बोले—"इस वार देवि, देखने में भूमि पर
दुगनी दया-सी हुई इन्द्र भगवा-

हँसी गई, रो भी न सकूँ मैं,—अपने इस जीवन में,
तो उत्कण्ठा है, देखूँ फिर क्या भाव-भुवन में!
सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूतिवशा,
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान-दशा।
न तो अगति ही है न गति, आज किसी भी ओर,
इस जीवन के झाड़ में रही एक झकझोर!

पाऊँ मैं तुम्हें आज, तुम मुझको पाओ,
ले लूँ अंचल पसार, पीतपत्र, आओ।

फूल और फल-निमित्त,
बलि देकर स्वरस-वित्त,
लेकर निश्चिन्त चित्त,
उड़ न हाय! जाओ,
लूँ मैं अँचल पसार पीतपत्र, आओ।

तुम हो नीरस शरीर,
मुझ में हैं नयन-नीर,
इसका उपयोग वीर,

मुझको बतलाओ।
लूँ मैं अंचल पसार, पीतपत्र, आओ।

जो प्राप्ति हो फूल तथा फलों की,
मधूक, चिन्ता न करो दलों की।
हो लाभ पूरा पर हानि थोड़ी,
हुआ करे तो वह भी निगोड़ी।

श्लाघनीय हैं एक-से दोनों ही द्युतिमन्त,
जो वसन्त का आदि है, वही शिशिर का अन्त।

ज्वलित जीवन धूम कि धूप है,
भुवन तो मन के अनुरूप है।
हसित कुन्द रहे कवि का कहा,
सखि, मुझे वह दाँत दिखा रहा!

हाय! अर्थ की उष्णता देगी किसे न ताप?
धनद-दिशा में तप उठे आतप-पति भी आप।

अपना सुमन लता ने
निकाल कर रख दिया, बिना बोले,

आलि, कहाँ वनमाली,
झड़ने के पूर्व झाँक ही जो ले?

जा, मलयानिल, लौट जा, यहाँ अवधि का शाप,
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप!
भ्रमर, इधर मत भटकना, ये खट्टे अँगूर,
लेना चम्पक-गन्ध तुम, किन्तु दूर ही दूर।

सूखा है यह मुख यहाँ, रूखा है मन आज;
किन्तु सुमन-संकुल रहे प्रिय का वकुल-समाज।

करूँ बड़ाई फूल की या फल की चिरकाल?
फूला-फला यथार्थ में तू ही यहाँ रसाल!

अरे एक मन, रोक थाम तुझे मैं ने लिया,
दो नयनों ने, शोक, भरम खो दिया, रो दिया!

नयनों को रोने दे,
मन, तू संकीर्ण न बन, प्रिय बैठे हैं,
आँखों से ओझल हों,
गये नहीं वे कहीं, यहीं पैठे हैं।

यही आती है इस मन में,
छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में।

प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ, रहूँ निकट भी दूर,
व्यथा रहे, पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर।
हर्ष डूबा हो रोदन में,
यही आती है इस मन में।

बीच-बीच में उन्हें देखलूँ मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायँ तब लेटूँ उसी धूल में लोट।
रहें रत वे निज साधन में,
यही आता है इस मन में।

जाती-जाती, गाती-गाती, कह जाऊँ यह बात—
धन के पीछे जन, जगती में उचित नहीं उत्पात।
प्रेम की ही जय जीवन में।
यही आता है इस मन में।

कूड़े से भी आगे
पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते गिरते,

दिन बारह वर्षों में
घूड़े के भी सुने गये हैं फिरते!

रस पिया सखि, नित्य जहाँ नया,
अब अलभ्य वहाँ विष हो गया!
मरण-जीवन की यह संगिनी,
बन सकी वन की न विहंगिनी!

सखि, यहाँ सब ओर निहार तू,
फिर विचार अतीत-विहार तू।
उदित-से सब हास-विलास हैं,
रुदित-से सब किन्तु उदास हैं।

स्वजनि, पागल भी यदि हो सकूँ,
कुशल तो, अपनापन खो सकूँ।।
शपथ है उपचार न कीजियो,
बस इसी प्रिय-कानन-कुंज में,

अवधि की सुध ही तुम लीजिये।
मिलन-भाषण के स्मृति-पुंज में,
अभय छोड़ मुझे तुम दीजियो,
हसन-रोदन से न पसीजियो।

सखि, न मृत्यु, न आधि, न व्याधि ही,
समझियो तुम स्वप्न-समाधि ही।
हहह! पागल हो यदि उर्मिला,
विरह-सर्प स्वयं फिर तो किला!

प्रिय यहाँ वन से जब आयेंगे,
सब विकार स्वयं मिट जायँगे।
न सपने सपने रह पायँगे,
प्रकटता अपनी दिखलायँगे।

अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार;
तिल-तिल काट रही थी दृगजल-धार।

—साकेत महाकाव्य से



श्री जयशंकरप्रसाद
'प्रसाद'

बा० जयशंकरप्रसाद का संक्षिप्त परिचय

बाबू जयशंकरप्रसाद जी का जन्म माघ शुक्ला दशमी संवत् १६४६ को काशी में हुआ था। इनके पिता देवीप्रसादजी सुँघनी साहु के नाम से प्रख्यात थे। बनारस के तमाखू के व्यापारियों में वे मुख्य थे। वे बड़े दानी और उदार थे। जनता में उनका अच्छा मान था। साक्षात्कार होने पर जनता उनको 'महादेव' नाम से सम्बोधित करती थी। यह प्रतिष्ठा काशी नरेश को छोड़ और किसी को प्राप्त नहीं है। पिता की असामयिक मृत्यु के कारण इनको मिडिल तक पढ़कर ही पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। बाद में कई अध्यापकों को घर पर ही नियुक्त कर इन्होंने संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। सत्रह वर्ष की अवस्था में बड़े भाई की मृत्यु हो जाने से सारा भार इन्हीं के कन्धों पर आ पड़ा। इन्होंने बड़ी योग्यता से सब काम सँभाले। वंश मर्यादा एवं प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए, व्यापार भी बड़ी कुशलता से चलाते रहे। सब झंझटों के होते हुए भी साहित्य की सेवा करना प्रसाद जैसे पुरुषार्थी के लिए ही संभव था। आज इनका नश्वर शरीर हमारे बीच नहीं है परन्तु इनकी धवल कीर्ति सदा इसी प्रकार अक्षुण्ण और अमर रहेगी।

प्रसाद जी को प्राचीन इतिहास विशेषतः बौद्धकाल का अच्छा ज्ञान था। इनका दार्शनिक बोध भी ऊँचे पैमाने का था। इनके दार्शनिक विचार अच्छे सुलझे हुए थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में कथावस्तु का चुनाव बड़ी कुशलता से किया है। कुछ काल पहले तक रामायण और महाभारत से ही कथावस्तु लेने की प्रणाली सी हो गई थी, इन्होंने अपने नाटकों के लिए बौद्ध काल के इतिहास को आधार बनाया। इससे आपके नाटकों में नूतनता आ गई। इसके अतिरिक्त आप बहुत से धार्मिक पचड़ों से भी बच गये। आपने पुराने रूढ़िगत आदर्शों में भी क्रान्ति की। मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। प्राचीनता और नवीनता के स्वीकार में सामञ्जस्य भाव से काम लिया। समय की गति-विधि और आवश्यकता को देखकर हृदय के कोमल भावों का—विशेषतः प्रेम का बड़े साहस के साथ सजीव भाषा में चित्रण किया। इन्होंने संस्कृत-साहित्य से कोमलकान्तपदावली लेकर हिन्दी के शब्द-भांडार को प्रचुरता से भरा। आपकी भाषा बड़ी रोचक परिष्कृत एवं सजीव होती है। पाठक मन्त्रमुग्ध सा रह जाता है। थोड़ा-सा संस्कृत का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी आपकी रचनाओं का आनन्द ले सकता है। इनकी कविताओं को समझने के लिए दार्शनिक बोध के अतिरिक्त साहित्यिक रुचि की भी अपेक्षा रहती है।

आपने अनेक नाटकों की रचना की है, मुख्य नाटकों के नाम ये हैं:—विशाख, अजातशत्रु, राज्यश्री, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, प्रायश्चित्त, करुणालय, एक घूँट और कामना। आपकी मुख्य कहानियों के संग्रहों के नाम

ये हैं:—आकाशदीप, छाया, नवपल्लव, प्रतिध्वनि और इन्द्र जाल। कहानियों के अतिरिक्त आपने कंकाल और तितली नाम के दो उपन्यास भी लिखे हैं। कानन-कुसुम और झरना में आपकी फुटकर कविताओं का संग्रह है। 'आँसू' इनकी बड़ी सुन्दर कविता-पुस्तक समझी जाती है। अभी हाल में इन्होंने 'कामायनी' महाकाव्य की रचना की है। हिन्दी के लिए प्रसाद जी की यह अन्तिम भेंट है। यह काव्य इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना समझी जाती है। इस काव्य पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी इनको मिल चुका है। प्रस्तुत संग्रह में 'आशा' कामायनी से ही ली गई है।

आशा

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित काल रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई।

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में।
शरद विकास नये सिर से।

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग;
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।

धीरे धीरे हिम-आच्छादन
हटने लगा धरातल से;
जगीं वनस्पतियाँ अलसाईं
मुख धोतीं शीतल जल से।

नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने;
जलधि लहरियों की अँगड़ाई
बार बार जाती सोने।

सिंधु सेज पर धरा-वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी।

देखा मनु ने वह अति रंजित
विजन विश्व का नव एकांत;
जैसे कोलाहल सोया हो
हिम शीतल जड़ता सा श्रांत।

इंद्रनील मणि महा चषक था
    सोम रहित उलटा लटका;
आज पवन मृदु साँस ले रहा
    जैसे बीत गया खटका।

वह विराट था हेम घोलता
    नया रंग भरने को आज,
कौन? हुआ यह प्रश्न अचानक
    और कुतूहल का था राज।

'विश्वदेव, सविता या पूषा
    सोम, मरुत, चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
    किसके शासन में अम्लान?

किसका था भ्रू-भंग प्रलय सा
    जिसमें ये सब विकल रहे;
अरे! प्रकृति के शक्ति-चिन्ह ये
    फिर भी कितने निबल रहे!

विकल हुआ सा काँप रहा था,
सकल भूत चेतन समुदाय;
उनकी कैसी बुरी दशा थी
वे थे विवश और निरुपाय।

देव न थे हम और न ये हैं,
सब परिवर्त्तन के पुतले;
हाँ—कि गर्व-रथ में तुरंग सा,
जितना जो चाहे जुत ले।

"महा नील इस परम व्योम में,
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते थे संधान!

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए;
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए?

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?

हे अनन्त रमणीय ? कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता।

हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान"—
मंद गँभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।

"यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल
सदय हृदय में अधिक अधीर;
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही
आशा बन कर प्राण समीर !

यह कितनी स्पृहणीय बन गई
मधुर जागरण सी छविमान;
स्मिति की लहरों सी उठती है
नाच रही ज्यों मधुमय तान।

जीवन ! जीवन ! की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह;
किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह;

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में !
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।

यह संकेत कर रही सत्ता
किसकी सरल विकास-मयी,
जीवन की लालसा आज क्यों
इतनी प्रखर विलास-मयी ?

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,—
जीकर क्या करना होगा ?
देव ! बता दो, अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा ?"

एक यवनिका हटी, पवन से
प्रेरित माया पट जैसी;
और आवरण-मुक्त प्रकृति थी
हरी भरी फिर भी वैसी।

स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
दूर दूर तक फैल रहीं;
शरद इंदिरा के मन्दिर की
मानो कोई गैल रही।

विश्व-कल्पना सा ऊँचा वह
सुख शीतल सन्तोष निदान;
और डूबती सी अचला का
अवलंबन मणि रत्न निधान।

अचल हिमालय का शोभनतम
    लता कलित शुचि सानु शरीर,
निद्रा में सुख स्वप्न देखता
    जैसे पुलकित हुआ अधीर।

उमड़ रही जिसके चरणों में
    नीरवता की विमल विभूति,
शीतल झरनों की धारायें
    बिखराती जीवन अनुभूति।

उस असीम नीले अंचल में
    देख किसी की मृदु मुसक्यान,
मानो हँसी हिमालय की है
    फूट चली करती कल गान।

शिला-संधियों में टकरा कर
    पवन भर रहा था गुंजार,
उस दुर्भेद्य अचल दृढ़ता का
    करता चारण सदृश प्रचार।

ए.स. मै कृष्णन

जयशङ्कर प्रसाद

संध्या-घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रंग विरंगी छींट,
गगन चुंबिनी शैल-श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार किरीट।

विश्व मौन, गौरव, महत्व की
प्रतिनिधियों सी भरी विभा;
इस अनंत प्रांगण में मानो
जोड़ रही है मौन सभा।

वह अनंत नीलिमा व्योम की
जड़ता सी जो शांत रही,
दूर-दूर ऊँचे से ऊँचे
निज अभाव में भ्रांत रही।

उसे दिखाती जगती का सुख,
हँसी, और उल्लास अजान,
मानो तुंग तरंग विश्व की
हिमगिरि की वह सुढर उठान।

अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे;
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे।

दुख का गहन पाठ पढ़ कर अब
सहानुभूति समझते थे;
नीरवता की गहराई में
मग्न अकेले रहते थे।

मनन किया करते वे बैठे
ज्वलित अग्नि के पास वहाँ;
एक सजीव तपस्या जैसे
पतझड़ में कर वास रहा।

फिर भी धड़कन कभी हृदय में
होती, चिंता कभी नवीन;
यों ही लगा बीतने उनका
जीवन अस्थिर दिन-दिन दीन।

प्रश्न उपस्थित नित्य नये थे
अंधकार की माया में;
रंग बदलते जो पल-पल में
उस विराट की छाया में।

अर्ध प्रस्फुटित उत्तर मिलते
प्रकृति सकर्मक रही समस्त,
निज अस्तित्व बना रखने में
जीवन आज हुआ था व्यस्त।

तप में निरत हुये मनु, नियमित—
कर्म लगे अपना करने।
विश्व रंग में कर्मजाल के
सूत्र लगे घन हो घिरने।

उस एकांत नियति शासन में
चले विवश धीरे धीरे;
एक शांत स्पंदन लहरों का
होता ज्यों सागर तीरे।

विजन जगत की तंद्रा में
तब चलता था सूना सपना;
ग्रह पथ के आलोक वृत्त से
काल जाल तनता अपना।

प्रहर दिवस रजनी आती थी
चल जाती संदेश-विहीन;
एक विराग-पूर्ण संसृति में
ज्यों निष्फल आरंभ नवीन।

धवल मनोहर चंद्र बिम्ब से
अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ;
जिसमें शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ।

नीचे दूर दूर विस्तृत था
उर्मिल सागर व्यथित अधीर;
अंतरिक्ष में व्यस्त उसी सा
रहा चंद्रिका-निधि गंभीर।

जयशङ्कर प्रसाद

खुली उसी रमणीय दृश्य में
अलस चेतना की आँखें,
हृदय कुसुम की खिलीं अचानक
मधु से वे भीगी पाँखें।

व्यक्त नील में चल प्रकाश का
कंपन सुख बन बजता था,
एक अतींद्रिय स्वप्न लोक का
मधुर रहस्य उलझता था।

नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान;
चिर परिचित सा चाह रहा था
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान।

दिया रात्रि या मित्र वरुण की
बाला का अक्षय शृंगार,
मिलन लगा हँसने जीवन के
ऊर्मिल सागर के उस पार।

तप से संयम का संचित बल
तृषित और व्याकुल था आज,
अट्टहास कर उठा रिक्त का
वह अधीर तम, सूना राज।

धीर समीर परस से पुलकित
विकल हो चला श्रांत शरीर।
आशा की उलझी अलकों से
उठी लहर मधुगन्ध अधीर।

मनु का मन था विकल हो उठा
संवेदन से खा कर चोट,
संवेदन! जीवन जगती को
जो कटुता से देता घोट।

"आह! कल्पना का सुन्दर यह
जगत मधुर कितना होता!
सुख स्वप्नों का दल छाया में
पुलकित हो जगता—सोता।

संवेदन का और हृदय का
　　　　यह संघर्ष न हो सकता,
फिर अभाव असफलताओं की
　　　　गाथा कौन कहाँ बकता !

कब तक और अकेले ? कह दो
　　　　हे मेरे जीवन बोलो ?
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत,
　　　　अपनी निधि न व्यर्थ खोलो !

"तम के सुन्दर तम रहस्य, हे
　　　　कांति किरण रंजित तारा !
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल
　　　　बिन्दु, भरे नव रस सारा।

आतप तापित जीवन की
　　　　सुख शान्तिमयी छाया के देश,
हे अनंत की गणना, देते हो
　　　　कितना मधुमय संदेश !

आह शून्यते ! चुप होने में
तू क्यों इतनी चतुर हुई,
तू रजनी ! तू इंद्रजाल जननी !
क्यों इतनी मधुर हुई ?

"जब कामना सिंधु तट आई
ले संध्या का तारा दीप,
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी
तू हँसती क्यों अरी प्रतीप ?

इस अनन्त काले शासन का
वह जब उच्छृङ्खल इतिहास,
आँसू औ' तम घोल लिख रही
तू सहसा करती मृदु हास।

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से—
आती चूम-चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से।

किस दिगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही सी
चली जा रही किसके पास।

विकल खिलखिलाती है क्यों तू?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर,
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अंधेर।

घूँघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती सी आती,
विजन गगन में किसी भूल सी
किसको स्मृति पथ में लाती।

रजत कुसुम के नव पराग सी
उड़ा न दे तू इतनी धूल,
इस ज्योत्स्ना की, अरी बावली!
तू इसमें जावेगी भूल।

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।

फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली,
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली।

ऐसे अतुल अनन्त विभव में
जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग?
या भूली सी खोज रही कुछ
जीवन की छाती के दाग!

"मैं भी भूल गया हूँ कुछ,
हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था!
प्रेम, वेदना, भ्रान्ति या कि क्या?
मन जिसमें सुख सोता था!

जयशङ्कर प्रसाद

मिले कहीं वह पड़ा अचानक
उसको भी न लुटा देना;
देख तुझे भी दूँगा तेरा
भाग न उसे भुला देना !

—कामायनी से

लहर

[१]

मधुप गुन-गुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त-नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास—
यह लो, करते ही रहते हैं, अपना व्यङ्ग्य-मलिन उपहास।
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी-बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिल-खिला कर हँसने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया?
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।

जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?

छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्म-कथा?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

[२]

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र ले कम्पित करमें,
मधु-भिक्षा की रटन अधर में,
इस अनजाने निकट नगर में,
आ पहुँचा था एक अकिञ्चन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
लोगों की आँखें ललचाईं,
स्वयं माँगने को कुछ आईं।

मधु सरिता उफनी अकुलाई,
देने को अपना संचित धन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
फूलों ने पंखुरियाँ खोलीं,
आँखें करने लगीं ठिठोली,
हृदयों ने न सम्हाली झोली,
लुटने लगे विकल पागल मन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र में था भर आता—
वह रस बरबस था न समाता,
स्वयं चकित-सा समझ न पाता
कहाँ छिपा था, ऐसा मधुवन!

उस दिन जब जीवन के पथ में,
मधु-मङ्गल की वर्षा होती,
काँटों ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती—
आशा, समझ मिला अपना धन।

—लहर से

टिप्पणी

मधु सरिता उफनी अकुलाई,
देने को अपना संचित धन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
फूलों ने पंखुरियाँ खोलीं,
आँखें करने लगीं ठिठोली,
हृदयों ने न सम्हाली झोली,
लुटने लगे विकल पागल मन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र में था भर आता—
वह रस बरबस था न समाता,
स्वयं चकित-सा समझ न पाता
कहाँ छिपा था, ऐसा मधुवन!

उस दिन जब जीवन के पथ में,
मधु-मङ्गल की वर्षा होती,
काँटों ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती—
आशा, समझ मिला अपना धन।

—लहर से

टिप्पणी

टिप्पणी

सेवापरा राधा

पृष्ठ

८५—मधुमास—चैत्रमास । मंजु—सुन्दर । वसुन्धरा—पृथ्वी । वासंतिकता—वसन्त की शोभा । वनान्त—वन प्रान्त, जंगली भूमि अथवा मैदान । नवीनभूता—नूतनता को प्राप्त हुई । विहंग—पक्षी । वृन्द—समूह । कूजित—शब्दित । पुञ्ज—समूह ।

८६—निसर्ग—प्रकृति, सृष्टि । सौरभ—महक, सुगन्ध । पराग—पुष्परज । मिलिन्द—भौंरा । मार—कामदेव । लसी—सुशोभित हुई । प्रसून—फूल । सुधारस—अमृत, मकरंद । धमनी—शरीर के भीतर की वह छोटी अथवा बड़ी नली जिसमें रक्त आदि का संचार होता रहता है, नाड़ी । समीर—पवन । मलयाचल—मलय पर्वत ।

८७—पादप—वृक्ष । मलयानिल—मलय पर्वत की ओर से आने वाली हवा । शिखाग्नितुल्या—अग्नि की लपटों के समान । अंगारक—अंगार ।

८८—वृषभानु—श्री राधिकाजी के पिता का नाम । ऊधो—उद्धव, कृष्ण के सखा । कान्त-नितान्त—परम सुन्दर । समावृता—घिरी हुई । संकुला—भरी हुई, परिपूर्ण, घनी । वृषभानु-नन्दिनी—

पृष्ठ

राधिकाजी। नीरव—शब्दरहित। अलिवृन्द-आवृता—
समूह से घिरी हुई। श्रीवलवीरबन्धु—कृष्ण के सखा,

८९—आकुलता—व्याकुलता, घबड़ाहट, बेचैनी।

९०—आशा मिलन—मिलने की आशा। पान्थ—पथिक,
नभ—आकाश। मनुज-मुख—मनुष्य का मुख। निहि
हुआ, छिपा हुआ। श्रेय—कल्याण। लिप्सा-जगत-हित-
का कल्याण करने की इच्छा। मनोज्ञा—मनोहर,
आत्मोत्सर्ग—दूसरे की भलाई के लिए अपने हिताहित
छोड़ना।

९१—निरत—संलग्न। आत्मार्थी—अपने आपका ध्यान रख
स्वार्थी। अवनि तल—पृथ्वी तल। विपुलसुख—अधिक
विपाशा—व्यास नदी जो पंजाब में है, विशेष—ऋग्वे
नदी का उल्लेख शतुद्री (सतलज) के साथ है। जन्हुजा-
कौमुदी—चाँदनी। शान्ति-लोकोत्तरा—अलौकिक

९२—दयिते—प्रिये। कलत्रोचित-चित्त-उच्चता—स्त्रियोचित
उच्चता। पुलकित होना—रोमांचित होना। उरतिमिर
का अज्ञानान्धकार। ज्ञान-आभा—ज्ञान की कान्ति से।

९३—पुहुमीरत्न—पृथ्वी पर रत्न समान। संयत होना—
होना। व्योम—आकाश।

९४—अन्तरों में—हृदयों में। मुरलि-रव—बाँसुरी का शब्द।

पृष्ठ

९५—मंजुलता—सुन्दरता।

९६—कंज—कमल। साम्यता—समानता। स्वीय प्राणेश—अपने प्राणों के स्वामी। अमित—अपरिमित।

९७—अव्यक्त—जो स्पष्ट न हो, अज्ञात, अनिर्वचनीय। गुणातीत—गुणों से परे, जो गुणों के प्रभाव से अलग हो, त्रिगुणात्मिका से निर्लिप्त। अखिल—सम्पूर्ण। आँखें-प्रभृति—आँखें आदि। भूरि-संख्यावती अधिक संख्यावाली।

९८—संसिद्धि—सफलता, पूर्णता। अकाम—कामना रहित। नवधा—नौ प्रकार की। पद-अर्चना—चरण-सेवा।

९९—सरि—सरित नदी। प्रथित—प्रख्यात, प्रसिद्ध। कांचन—सुवर्ण, सोना।

१००—अनुज्ञा—आज्ञा। अछत—रहते हुए, विद्यमानता में। स्वीय कार्यावली में—अपने कार्यकलाप में। मात्रा-प्रणय—प्रेम की मात्रा। पूत—पवित्र।

१०१—पुष्पानुपम—पुष्प के समान। चारु—सुन्दर। परम-शुचि—परम पवित्र। सनय—नम्रता पूर्वक।

१०२—विपुल—अधिक। अंभोधि—समुद्र। कोटक—कोड़ा।

१०३—व्यग्रता-धाम—घबड़ाहट के स्थान, अत्यधिक घबड़ाहट के स्थान। मगध-अवनी-नाथ—जरासंध। निराशा—निराशा।

एक सै सतहत्तर

पृष्ठ

१०४—वीची—लहर । तिमिर—अन्धकार । निलय—स्थान, घर, जगह । खचित—जड़ा हुआ, चित्रित, लिखित ।

१०६—किल्विष—पाप । केकी—मोर । केकिनी—मोरिनी ।

१०७—पर्जन्य—मेघ । सुषमा—परमशोभा, अत्यन्त सुन्दरता । कलापी—मोर । राका—पूर्णिमा की रात । विधु—चंद्रमा । विपन्ना—आपत्तिग्रस्त ।

१०८—ऋतुपति—वसंत । मेदिनी—पृथ्वी । मनसिज—कामदेव ।

१०९—व्यजन—पंखा । कुवलयदल—कमल पत्र । बीछे—चुने हुए ।

११२—आधि—मानसिक व्यथा, चिन्ता । निधि—ख़ज़ाना । भगिनी—बहिन ।

११४—तामसी रात—अँधेरी रात ।

तपस्विनी ऊर्मिला

११९—पावनी—पवित्र । पूतशीला—पवित्र आचरणवाली । अनासक्त—किसी कार्य में, विशेष रूप से संसारी धन्धों में न फँसने वाला । नेही—गृहस्थ, घरबार वाला । पुण्यदेही—पवित्र शरीर वाला । विदेही—राजा जनक इस नाम से भी पुकारे जाते थे, इसका मुख्य अर्थ यह है कि जो शरीर धारण करते हुए भी इसके मोह में फँसा न हो ।

१२०—नन्दन—इन्द्र के उपवन का नाम जो स्वर्ग में माना जाता है ।

पृष्ठ

१२१—प्रतिमा—मूर्त्ति। आत्मज्ञान—अपनी सुध-बुध। विक्षेप—इधर उधर फैंकना। दण्ड—साठ पल का काल, घड़ी, २४ मिनट का समय।

१२२—विपंची—एक प्रकार का बाजा जिसमें तार लगे रहते हैं, एक प्रकार की वीणा का नाम। दिर दार दारा—सितार के बोल। कर्त्तरी—कैंची। शाखी—शाखा वाले, वृक्ष। तूली—रंग भरने की कूँची। व्यंजन—तरकारी, साग, चटनी आदि जो दाल चावल और रोटी आदि के साथ खाए जाते हैं।

१२३—अलोना—जिसमें नमक न हो, फीका। सलोना—जिसमें नमक पड़ा हो। प्रयोक्ता—प्रयोग करने वाला। आली—सखी, सहेली। रंक—निर्धन, ग़रीब।

१२४—अम्बर—कपड़ा, आकाश। धूलि-धूसर—धूल से भरा। अर्णव—समुद्र। प्रोषित पतिका—ऐसी स्त्री जिसका पति बाहर परदेश में निवास कर रहा हो। प्रणयपुरस्सर—प्रेम पूर्वक।

१२५—लोहित—लाल वर्ण। रूपी—रूप विशिष्ट, तुल्य, सदृश, सुन्दर ख़ूबसूरत। झखमार—विवश होकर बुरी तरह झींखना, लाचार होकर ख़ूब कुढ़ना। क्षणदा—रात्रि। अलीक—मिथ्या, झूठा।

१२६—अर्घ्य—पूजनीय, पूजा में देने योग्य जल, फूल, मूल आदि, भेंट देने योग्य। उडुगण—नक्षत्र समूह।

१२७—अलिनी—भ्रमरी। वराक—विचारा। उशीर—खस। अवनि—पृथ्वी। हिमांशु—चन्द्रमा।

पृष्ठ

१०४—वीची—लहर । तिमिर—अन्धकार । निलय—स्थान, घर, जगह। खचित—जड़ा हुआ, चित्रित, लिखित ।

१०६— किल्विष—पाप । केकी—मोर । केकिनी—मोरिनी ।

१०७—पर्जन्य—मेघ । सुषमा—परमशोभा, अत्यन्त सुन्दरता । कलापी—मोर । राका—पूर्णिमा की रात । विधु—चंद्रमा । विपन्ना—आपत्तिग्रस्त ।

१०८—ऋतुपति—वसंत । मेदिनी—पृथ्वी । मनसिज—कामदेव ।

१०९—व्यजन—पंखा । कुवलयदल—कमल पत्र । बीछे—चुने हुए ।

११३—आधि—मानसिक व्यथा, चिन्ता । निधि—ख़ज़ाना । भगिनो—बहिन ।

११४—तामसी रात—अँधेरी रात ।

तपस्विनी ऊर्मिला

११९—पावनी—पवित्र । पूतशीला—पवित्र आचरणवाली । अनासक्त—किसी कार्य में, विशेष रूप से संसारी धन्धों में न फँसने वाला । गेही—गृहस्थ, घरबार वाला । पुण्यदेही—पवित्र शरीर वाला । विदेही—राजा जनक इस नाम से भी पुकारे जाते थे, इसका मुख्य अर्थ यह है कि जो शरीर धारण करते हुए भी इसके मोह में फँसा न हो ।

१२०—नन्दन—इन्द्र के उपवन का नाम जो स्वर्ग में माना जाता है ।

पृष्ठ

१२१—प्रतिमा—मूर्त्ति। आत्मज्ञान—अपनी सुध-बुध। विक्षेप—इधर उधर फेंकना। दण्ड—साठ पल का काल, घड़ी, २४ मिनट का समय।

१२२—विपंची—एक प्रकार का बाजा जिसमें तार लगे रहते हैं, एक प्रकार की वीणा का नाम। दिर दार दारा—सितार के बोल। कर्त्तरी—कैंची। शाखी—शाखा वाले, वृक्ष। तूली—रंग भरने की कूँची। व्यंजन—तरकारी, साग, चटनी आदि जो दाल चावल और रोटी आदि के साथ खाए जाते हैं।

१२३—अलोना—जिसमें नमक न हो, फीका। सलोना—जिसमें नमक पड़ा हो। प्रयोक्ता—प्रयोग करने वाला। आली—सखी, सहेली। रंक—निर्धन, ग़रीब।

१२४—अम्बर—कपड़ा, आकाश। धूलि-धूसर—धूल से भरा। अर्णव—समुद्र। प्रोषित पतिका—ऐसी स्त्री जिसका पति बाहर परदेश में निवास कर रहा हो। प्रणयपुरस्सर—प्रेम पूर्वक।

१२५—लोहित—लाल वर्ण। रूपी—रूप विशिष्ट, तुल्य, सदृश, सुन्दर खूबसूरत। झखमार—विवश होकर बुरी तरह झींखना, लाचार होकर खूब कुढ़ना। क्षणदा—रात्रि। अलीक—मिथ्या, झूठा।

१२६—अर्घ्य—पूजनीय, पूजा में देने योग्य जल, फूल, मूल आदि, भेंट देने योग्य। उडुगण—नक्षत्र समूह।

१२७—अलिनी—भ्रमरी। वराक—बिचारा। उशीर—खस। अवनि—पृथ्वी। हिमांशु—चन्द्रमा।

पृष्ठ

१२८—तन्तुवाय—कपड़े बुनने वाला, जुलाहा । ऊष्मानिल—गर्महवा ।

१२९—ताल-वृन्त—ताड़ के पत्ते का पंखा । सारंग—सारंगी नामक वाद्य यन्त्र । स्वरित—शब्दित । उच्छ्वास—उसास, साँस ।

१३०—इन्द्रवधू—वीरवहूटी नाम का कीड़ा । नीप—कदम्ब । घोष—शब्द ।

१३१—तड़ित—बिजली ।

१३२—बन्धूक—दुपहरिया का फूल जो लाल रँग का होता है । शीर्ण—फटा पुराना, जीर्ण ।

१३३—ओषधीश—चन्द्रमा । मुकुर—दर्पण । मयंक—चन्द्रमा । निशीथ—रात्रि । नैश—रात्रि का । तारकचिह्नदुकूलिनी—नक्षत्र जटित क्षौम वस्त्र धारण करने वाली । श्यामा—रात्रि । रिक्त—खाली । सुधाधर—चन्द्रमा ।

१३४—संबल—रास्ते का भोजन, सफर खर्च, सहारा ।

१३६—नीहार—कुहरा, पाला । गमकता था—फैलता था, महँकता था । पाण्डुरता—पीलापन, श्वेतता । अकिंचना—तुच्छ ।

१३७—जालगता—जाल में, फन्दे में पड़ी हुई ।

१३८—मधूक—महुए का पेड़ अथवा महुए का फल । श्लाघनीय—प्रशंसनीय । धनददिशा—कुबेर की दिशा, उत्तर दिशा । आतप-पति—सूर्य ।

एक मैं अर्सा

पृष्ठ

१३६—वकुल—अगस्त का पेड़ या फूल अथवा मौलसिरी। रसाल—आम का पेड़।

१४०—जगती—संसार, पृथ्वी।

आशा

१४६—अन्तर्निहित हुई—छिप गई। विवर्ण—कान्तिहीन। आलोक—प्रकाश। संसृति—संसार, जगत्। पिंग—पीला।

१५१—इन्द्रनील-मणि—नीलमणि, नीलम। चषक—मद्य पीने का पात्र। विश्वदेव—पुराणानुसार एक प्रकार के देवता जिनकी पूजा नांदीमुख श्राद्ध में होती है। पूषा—पृथ्वी।

१५२—संधान—धनुष पर बाण चढ़ाने की क्रिया, अन्वेषण, खोज। वीरुध—वृक्ष और वनस्पति आदि।

१५३—प्रवचन—अच्छी तरह समझ कर कहना, व्याख्या करना। विराट्—विश्व शरीरमय अनन्त पुरुष। समीर—पवन।

१५४—शाश्वत—नित्य, जो सदा स्थायी रहे।

१५५—यवनिका—कनात, नाटक का परदा। शाली—पाँच प्रकार के धानों में से एक प्रकार का धान। इंदिरा—लक्ष्मी, शोभा, कान्ति। अचला—पृथ्वी।

१५६—सानु—पर्वत की चोटी, शिखर।

१५७—तुषार—बरफ। किरीट—एक प्रकार का शिरोभूषण जो माथे में बाँधा जाता था और जिसका व्यवहार प्राचीन राजा पगड़ी के स्थान

पर करते थे। इसके ऊपर मुकुट भी कभी-कभी पहनते थे। तुङ्ग—ऊँचा।

१५६—क्षितिज—खगोल में वह तिर्यग् वृत्त जिसकी दूरी आकाश के मध्य से ९० अंश हो। ऊँचे स्थान पर खड़े होकर देखने से चारों ओर दिखाई पड़ता हुआ वह वृत्ताकार स्थान जहाँ आकाश और पृथ्वी दोनों मिले जान पड़ते हैं। वह्नि—अग्नि। अर्चि—अग्नि आदि की शिखा, लपट। समिद्ध—प्रज्वलित, प्रदीप्त।

१६२—रजनी—रात्रि। उर्मिल—तरङ्गित।

१६३—अतीन्द्रिय—इन्द्रियागोचर, जिसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न हो सके।

१६६—इन्द्रजाल—मायाकर्म, तिलस्म। प्रतीप—उलटा, प्रतिकूल। तुहिन—हिम, बरफ।

लहर

२७०—विडम्बना—किसी को चिढ़ाने या बनाने के लिए उसकी नक़ल उतारना, हँसी उड़ाना, मज़ाक करना। प्रवञ्चना—धूर्तता, छल।

२७१—पाथेय—वह भोजन जो पथिक अपने साथ मार्ग में खाने के लिए बाँध कर ले जाता है। छिन्न-पात्र—टूटा बर्तन।
